हिन्दी काव्य

(Hindi Poetry)

केसरी प्रसाद

हिन्दी काव्य

हिन्दी काव्य
(Hindi Poetry)

केसरी प्रसाद

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5631-8

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

काव्य वह वाक्य रचना है, जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रसगंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

हिंदी काव्य या पद्य साहित्य का इतिहास लगभग 800 साल पुराना है और इसका प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से समझा जाता है। हर भाषा की तरह हिंदी कविता भी पहले इतिवृत्तात्मक थी, यानि किसी कहानी को लय के साथ छंद में बांध कर अलंकारों से सजा कर प्रस्तुत किया जाता था। भारतीय साहित्य के सभी प्राचीन ग्रंथ कविता में ही लिखे गए हैं। इसका विशेष कारण यह था कि लय और छंद के कारण कविता को याद कर लेना आसान था। जिस समय छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था और दस्तावेजों की अनेक प्रतियां बनाना आसान नहीं था, उस समय महत्त्वपूर्ण बातों को याद रख लेने का यह सर्वोत्तम साधन था। यही कारण है कि उस समय साहित्य के साथ-साथ राजनीति, विज्ञान और आयुर्वेद को भी पद्य (कविता) में ही लिखा गया।

भारत की प्राचीनतम कविताएं संस्कृत भाषा में ऋग्वेद में हैं, जिनमें प्रकृति की प्रशस्ति में लिखे गए छंदों का सुंदर संकलन है। जीवन के अनेक अन्य विषयों

को भी इन कविताओं में स्थान मिला है। आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडियो, टी. वी. व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यत: पड़ा। आधुनिक काल का हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा, जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बांटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	काव्य परिभाषा	2
	ऐतिहासिक विकास	3
	भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900)	4
	काव्य के भेद	8
	कार्य में प्रवृत्ति	10
	मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन	11
	उच्च आदर्श	13
	कविता की आवश्यकता	13
	सृष्टि-सौन्दर्य	14
	कविता की भाषा	15
	श्रुति सुखदाता	18
	अलंकार	20
2.	**आदिकालीन हिन्दी काव्य**	**23**
	सिद्ध और नाथ साहित्य	25
	चंदबरदाई	37
	आदिकाल का नामकरण	45
3.	**भक्तिकाल**	**54**
	भक्ति काल	56

संत कवि 57
कृष्णाश्रयी शाखा 61
कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ 62
रामाश्रयी शाखा 63
ज्ञानाश्रयी मार्गी 66
हिन्दी भक्ति काव्य के सामाजिक सरोकार 82
भक्तिकाव्य धारा 87
भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ 91
रामाश्रयी शाखा 99
रामभक्ति काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ 101
ज्ञानमार्गी काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ 105
प्रेमाश्रयी शाखा 109
4. रीतिकाल 113
परिचय 114
रीति शब्द की व्याख्या 120
5. रीतिकाल की परिस्थितियाँ 124
सामाजिक परिस्थितियाँ 125
राजनैतिक परिस्थितियाँ 127
सांस्कृतिक परिस्थितियाँ 130
6. रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ) 133
वीरता 154
7. भारतेंदु युग की कविता 164
भारतेंदु युग के काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ) 165
भारतेंदु युग के साहित्यकार और उनकी रचनाएँ 173
निबंध संग्रह 176
महत्त्वपूर्ण कार्य 181
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' 186
कृतियाँ 189
अम्बिकादत्त व्यास 195
एक प्रेम-पथिक कवि 197
कविता संग्रह 198

बालकृष्ण भट्ट 199
हिन्दी साहित्य में स्थान 200
भावात्मक शैली 202
व्यंग्यात्मक शैली 202
देवकीनन्दन खत्री 203
व्यवसाय की शुरुआत 204
चन्द्रकांता की रचना 205
8. द्विवेदी युग की कविता 208
नामकरण 214
साहित्य 215
9. उत्तर-छायावाद युग 218
उत्तरछायावाद की काव्य प्रवृत्तियाँ 221
10. प्रगतिवादी युग की कविता 223
हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का उदय 224
प्रगतिवादी काव्यधारा की प्रमुख प्रवत्तियाँ 225
11. प्रयोगवाद एवं नयी कविता युग 228
प्रयोगवादी कविता की प्रवृत्तियां 229
शिल्पगत प्रयोग 244

1

विषय बोध

काव्य अथवा कविता या पद्य साहित्य की वह विधा है, जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरत मुनि से समझा जा सकता है। काव्य, कविता या पद्य, साहित्य की वह विधा है, जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरतमुनि से समझा जा सकता है। कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों की शृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है।

काव्य वह वाक्य रचना है, जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रसगंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दलंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

काव्य प्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है, जिस, में शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत व्यंग्य वह है, जिसमें गौण हो।

चित्र या अलंकार वह है, जिसमें बिना ब्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का जोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा या धीरोदात्त गुंण संपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमें शृंगार, वीर या शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच-बीच में करुणा हास्य इत्यादि रस तथा लोगों के प्रसंग भी आने चाहिए। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है, जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे– नाटक, प्रहसन, आदि जो पढ़ने और सुनने योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं- कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं।

काव्य परिभाषा

काव्य या कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों की शृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है। काव्य वह वाक्य रचना है, जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो। अर्थात् वह कला जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। 'रसगंगाधर' में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं, पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। 'साहित्य दर्पणाकार' विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक माना गया है। उनके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है।' रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।कविता या काव्य क्या है इस विषय में भारतीय साहित्य में आलोचकों की बड़ी समृद्ध परंपरा है। आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, पंडित अंबिकादत्त व्यास, आचार्य श्रीपति, भामह आदि संस्कृत के विद्वानों से लेकर आधुनिक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद जैसे प्रबुद्ध कवियों और आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा ने कविता

का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने अपने मत व्यक्त किए हैं। विद्वानों का विचार है कि मानव हृदय अनन्त रूपतामक जगत के नाना रूपों, व्यापारों में भटकता रहता है, लेकिन जब मानव अहं की भावना का परित्याग करके विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। कविता मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाती है और शेष सृष्टि से रागात्मक सम्बंध जोड़ने में सहायक होती है। काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। ये परिभाषाएं आधुनिक हिंदी काव्य के लिए भी सही सिद्ध होती हैं। काव्य सिद्ध चित्त को अलौकिक आनंदानुभूति कराता है तो हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। काव्य में सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना भी निहित होती है। जिस काव्य में यह सब कुछ पाया जाता है वह उत्तम काव्य माना जाता है।

ऐतिहासिक विकास

हिंदी काव्य या पद्य साहित्य का इतिहास लगभग 800 साल पुराना है और इसका प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से समझा जाता है। हर भाषा की तरह हिंदी कविता भी पहले इतिवृत्तात्मक थी, यानि किसी कहानी को लय के साथ छंद में बांध कर अलंकारों से सजा कर प्रस्तुत किया जाता था। भारतीय साहित्य के सभी प्राचीन ग्रंथ कविता में ही लिखे गए हैं। इसका विशेष कारण यह था कि लय और छंद के कारण कविता को याद कर लेना आसान था। जिस समय छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था और दस्तावेजों की अनेक प्रतियां बनाना आसान नहीं था उस समय महत्त्वपूर्ण बातों को याद रख लेने का यह सर्वोत्तम साधन था। यही कारण है कि उस समय साहित्य के साथ साथ राजनीति, विज्ञान और आयुर्वेद को भी पद्य (कविता) में ही लिखा गया। भारत की प्राचीनतम कविताएं संस्कृत भाषा में ऋग्वेद में हैं, जिनमें प्रकृति की प्रशस्ति में लिखे गए छंदों का सुंदर संकलन हैं। जीवन के अनेक अन्य विषयों को भी इन कविताओं में स्थान मिला है।आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा और जीता गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडिओ, टी वी व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यत: पड़ा। आधुनिक काल का

हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा। जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बांटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900)

ईस्वी सन 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन एवं नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान,श्रृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं, जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृध्द किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भार्तेन्दु हरिश्चन्द्र।
प्रताप नारायण मिश्र।
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'।
राधाचरण गोस्वामी।
अम्बिका दत्त व्यास।

पं महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की कविता (1900-1920)

सन 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी-युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज-भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला

रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारण शृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी-बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएं प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
रामचरित उपध्याय।
जगन्नाथ दास रत्नाकर।
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'।
श्रीधर पाठक।
राम नरेश त्रिपाठी।
मैथिलीशरण गुप्त।
लोचन प्रसाद पाण्डेय।
सियारामशरण गुप्त।

छायावादी युग की कविता (1920-1936)

सन् 1920 के आस-पास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई, इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई, परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

उत्तर-छायावाद युग-(1936-1943)

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की

कविता पर प डॉ. द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षत:राष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं--

माखनलाल चतुर्वेदी।
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'।
सुभद्रा कुमारी चौहान।
रामधारी सिंह 'दिनकर'।
हरिवंश राय 'बच्चन'।
भगवतीचरण वर्मा।
नरेन्द्र शर्मा।
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'।
शिवमंगल सिंह 'सुमन'।
नागार्जुन।
केदारनाथ अग्रवाल।
त्रिलोचन।
रांगेयराघव।

प्रगतिवादी युग की कविता (1936)

छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन-जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरुध्द जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिच्छाया हिंदी कविता पर भी पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई, इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नयी कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रखा जाता है।

प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (1943-1960)

दूसरे विश्वयुध्द के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है। दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नयी कविता नयी रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय।
गिरिजाकुमार माथुर।
प्रभाकर माचवे।
भारतभूषण अग्रवाल।
मुक्तिबोध।
शमशेर बहादुर सिंह।
धर्मवीर भारती।
नरेश मेहता।
रघुवीर सहाय।
जगदीश गुप्त।
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।
कुंवर नारायण।
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएं प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएं हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

काव्य के भेद

काव्य के प्रकार

काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र।

ध्वनि वह है, जिसमें शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो।

गुणीभूत व्यंग्य वह है, जिसमें व्यंग्य अर्थ अगूढ़ बन जाए तो ध्वनिकाव्य नहीं रहता, गुणोभूत व्यंग्य या मध्यम काव्य वह हो जाता है।

चित्र या अलंकार वह है, जिसमें बिना व्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम, और अधम भी कहते हैं।

काव्यप्रकाशकार का जोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है, जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे– नाटक, प्रहसन आदि। जो पढ़ने और सुनने योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं। कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं। काव्य के भेद दो प्रकार से किए गए हैं–

स्वरूप के आधार पर काव्य के दो भेद हैं - श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य।

श्रव्य काव्य

जिस काव्य का रसास्वादन दूसरे से सुनकर या स्वयं पढ़ कर किया जाता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। जैसे– रामायण और महाभारत।

श्रव्य काव्य के भी दो भेद होते हैं - प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य।

प्रबंध काव्य

इसमें कोई प्रमुख कथा काव्य के आदि से अंत तक क्रमबद्ध रूप में चलती है। कथा का क्रम बीच में कहीं नहीं टूटता और गौण कथाएँ बीच-बीच में सहायक बन कर आती हैं। जैसे– रामचरित मानस।

प्रबंध काव्य के दो भेद होते हैं - महाकाव्य एवं खण्डकाव्य।

1. महाकाव्य इसमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष की संपूर्ण जीवन कथा का आद्योपांत वर्णन होता है। महाकाव्य में ये बातें होना आवश्यक हैं–

महाकाव्य का नायक कोई पौराणिक या ऐतिहासिक हो और उसका धीरोदात्त होना आवश्यक है।

जीवन की संपूर्ण कथा का सविस्तार वर्णन होना चाहिए।

श्रृंगार, वीर और शांत रस में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए। यथास्थान अन्य रसों का भी प्रयोग होना चाहिए।

उसमें सुबह-शाम, दिन-रात, नदी-नाले, वन-पर्वत, समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण होना चाहिए।

आठ या आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए, प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होना चाहिए तथा सर्ग के अंत में अगले अंक की सूचना होनी चाहिए।

2. खंडकाव्य इसमें किसी की संपूर्ण जीवनकथा का वर्णन न होकर केवल जीवन के किसी एक ही भाग का वर्णन होता है। खंड काव्य में ये बातें होना आवश्यक हैं–

कथावस्तु काल्पनिक हो।

उसमें सात या सात से कम सर्ग हों।

उसमें जीवन के जिस भाग का वर्णन किया गया हो वह अपने लक्ष्य में पूर्ण हो।

प्राकृतिक दृश्य आदि का चित्रण देश काल के अनुसार और संक्षिप्त हो।

मुक्तक

इसमें केवल एक ही पद या छंद स्वतंत्र रूप से किसी भाव या रस अथवा कथा को प्रकट करने में समर्थ होता है। गीत कवित्त दोहा आदि मुक्तक होते हैं।

दृश्य काव्य

जिस काव्य की आनंदानुभूति अभिनय को देखकर एवं पात्रों से कथोपकथन को सुन कर होती है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। जैसे नाटक में या चलचित्र में।

शैली के अनुसार काव्य के भेद

1. पद्य काव्य–इसमें किसी कथा का वर्णन काव्य में किया जाता है, जैसे– गीतांजलि।

2. गद्य काव्य – इसमें किसी कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है, जैसे– जयशंकर की कमायनी।।। गद्य में काव्य रचना करने के लिए कवि को छंद शास्त्र के नियमों से स्वच्छंदता प्राप्त होती है।

3. चंपू काव्य – इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' चंपू काव्य है।

काव्य का प्रयोजन

राजशेखर ने कविचर्या के प्रकरण में बताया है कि कवि को विद्याओं और उपविद्याओं की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। व्याकरण, कोश, छन्द, और अलंकार – ये चार विद्याएँ हैं। 64 कलाएँ ही उपविद्याएँ हैं। कवित्व के 8 स्रोत हैं– स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढ़ता और राग।

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरो *ष्टौ कवित्वस्य (काव्यमीमांसा)

मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन बताये हैं–

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

(काव्य यश और धन के लिये होता है। इससे लोक–व्यवहार की शिक्षा मिलती है। अमंगल दूर हो जाता है। काव्य से परम शान्ति मिलती है और कविता से कान्ता के समान उपदेश ग्रहण करने का अवसर मिलता है।)

कार्य में प्रवृत्ति

कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है, जो हमें आह्लाद, क्रोध और करूणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य–प्रवृत्ति के लिए मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी से कहा जाये कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है, इसी से तुम्हारे

यहाँ अकाल और दारिद्यी बना रहता है? तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्यी और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थिपंजर सामने पेश किए जाएँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्तस्वर सुनाया जाए तो वह मनुष्य क्रोध और करूणा से विह्वल हो उठेगा और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेगा। पहले प्रकार की बात कहना राजनीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना, कवि का कर्त्तव्य है। मानव-हृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

मनोरंजन और स्वभाव-संशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दु:ख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव कर सकते हैं। किसी लोभी और कंजूस दुकानदार को देखिए, जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है। और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए, जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दु:ख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दुकानदार की प्रवृत्ति भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौन्दर्य की ओर ले जाएगी, कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकता की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी, कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखायेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिम्ब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलायेगी, तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने की शिक्षा देगी। प्राय: लोग कहा करते हैं कि कविता का अन्तिम उद्देश्य मनोरंजन है, पर मेरी समझ में मनोरंजन उसका अन्तिम उद्देश्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर इसके सिवा कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का प्रधान गुण है। इससे मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, इधर-उधर

जाने नहीं पाता। यही कारण है कि नीति और धर्म-सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि किसी काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो' 'सदैव सच बोलो' 'चोरी करना महापाप है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जाएगा, झूठा सच्चा हो जाएगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी शिक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उसका कोई प्रभाव अंकित हुआ न देखकर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता, पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय आदि अत्यन्त कोमल स्थानों को स्पर्श करती है, और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम को विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इन्द्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमा का लालच दिखाकर, यमराज का स्मरण दिलाकर और दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्य-परायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है, जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवाह करना मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। सदा-चार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है, अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाए, जिससे वे बिना आगा-पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें। मन को हमारे आचार्यों ने ग्यारहवीं इन्द्रिय माना है। उसका रंजन करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाए तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, तुलसीदास का रामचरितमानस, या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्माद कारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खे भी कवि लोग तैयार करने लगे। ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं, कुछ और भी है। चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है

उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं, भारत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तम्भित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण को दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं, तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करूणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और उसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है, जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य ही होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फंसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता रूपी औषधि बनाई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रुपवती पुत्रवधू को अकारण निकालने पर उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तब वह चिढ़कर बोला, 'चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है' आह! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है! सांसारिक बन्धनों में फंसकर मनुष्य का हृदय कभी-कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतनता - उसका मानुषभाव - कम हो जाता है। न उसे किसी का रूप माधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे किसी दीन दुखिया की पीड़ा देखकर करूणा आती

है, न उसे अपमानसूचक बात सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाए तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रूखाई के साथ यही कहेंगे – "जाने दो, हमसे क्या मतलब, चलो अपना काम देखो." याद रखिए, यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य जीते जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मरज की दवा है।

सृष्टि-सौन्दर्य

कविता सृष्टि-सौन्दर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त करती है, जो कविता रमणी के रूप माधुर्य से हमें आहलादित करती है, वही उसके अन्तःकरण की सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखा कर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अन्तःकरण की अपूर्व सात्विकी ज्योति दिखा कर पाठकों को चमत्कृत किया है। भौतिक सौन्दर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार सन्तोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी, झरना आदि से हम प्रफुल्लित होते हैं, उसी प्रकार मानवी अन्तःकरण में प्रेम, दया, करुणा, भक्ति आदि मनोवेगों के अनुभव से हम आनंदित होते हैं। और यदि इन दोनों पार्थिव और अपार्थिव सौन्दर्यों का कहीं संयोग देख पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यन्त सुन्दर पुरुष या अत्यन्त रूपवती स्त्री के रूप मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा, किन्तु यदि हम साथ ही उसके हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेह-शीलता आदि की भी झलक दिखावें तो उस वर्णन में सजीवता आ जाएगी। महाकवियों ने प्रायः इन दोनों सौन्दर्यों का मेल कराया है, जो किसी किसी को अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु संसार में प्राय- देखा जाता है कि रूपवान् जन सुशील और कोमल होते हैं और रूपहीन जन क्रूर और दुःशील। इसके सिवा मनुष्य के आंतरिक भावों का प्रतिबिम्ब भी चेहरे पर पड़कर उसे रुचिर या अरुचिर बना देता है। पार्थिव सौन्दर्य का अनुभव करके हम मानसिक अर्थात् अपार्थिव सौन्दर्य की ओर आकर्षित होते हैं। अतएव पार्थिव सौन्दर्य को दिखलाना कवि का प्रधान कर्म है। ==कविता का दुरूपयोग== जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और

खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों को कविता न करना चाहिए। कविता का उच्चाशय, उदार और नि:स्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य मात्र के हृदय में सौन्दर्य का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहने वाले बादशाह के वास्तविक सद् गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोंपड़े में रहने वाले किसान के सद् गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना, और बात बात पर उन्हें बधाई देना सत्कवि का काम नहीं। हाँ जिसने नि:स्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हित साधन किया है, धर्म का पालन किया है, ऐसे परोपकारी महात्मा का गुण गान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध सूत्र का काम देते हैं। हिन्दी में 'राजते हैं' 'गहते हैं' 'लहते हैं' 'सरसाते हैं' आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में बना रहना कोई अचम्भे की बात नहीं। अँग्रेजी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। 'Main' Swain' आदि शब्द ऐसे ही हैं। अंग्रेजी कविता समझने के लिए इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए, वे भी ऐसे जो भद्दे और गंवारू न हों। खड़ी बोली में संयुक्त क्रियाएँ बहुत लंबी होती हैं, जैसे - "लाभ करते हैं," "प्रकाश करते हैं" आदि। कविता में इनके स्थान पर "लहते हैं" "प्रकाशते हैं" कर देने से कोई हानि नहीं, पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिए ठीक नहीं हो सकती। कविता में कही गई बात हृत्पटल पर अधिक स्थायी होती है। अत: कविता में प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापार-सूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। समय बीता जाता है, कहने की अपेक्षा, समय भागा जाता है कहना अधिक काव्य सम्मत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना आदि ऐसे ही कवि-समय-सिद्ध वाक्य हैं जो बोल-चाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं -

(क) धन्य भूमि वन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा।। -तुलसीदास

(ख) मनहुँ उमगि अंग अंग छवि छलकै।। -तुलसीदास, गीतावलि।

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै चटकीली रही अंगिया ललचावे।

(घ) वीथिन में ब्र में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में बगरो बसंत है। -पद्माकर।

(ङ) रंग रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृन्दावन बागन पै बसंत बरसो परै।

बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनसे एक ही का नहीं, किन्तु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम जटिल शब्द कह सकते हैं। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है, प्रत्येक काम को पृथक पृथक दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है, जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है, जिनसे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव का अर्थ निकलता है। परन्तु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है- मानव-हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किए गए भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक दो बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया, जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो सम्भव है, कल्पना शक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके, अथवा तदन्तर्गत कोई ऐसा व्यापार प्रगट करे जो मानवी प्रकृति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य यह कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग, तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो कई संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वांछित नहीं। किसी ने 'प्रेम फौजदारी' नाम की शृंगार-रस-विशिष्ट एक छोटी-सी कविता अदालती काररवाइयों पर घटा कर लिखी है और उसे 'एक तरफा डिगरी' आदि कानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश्य इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धान्त को अधिक प्रभावोत्पादक बना कर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और पारिभाषिक शब्दों को निकाल कर

उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्म स्पर्शी रुप देता है। भर्तृहरि और गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात में बहुत निपुण थे। भर्तृहरि का एक श्लोक लीजिए- तृषा शुष्"तास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि

क्षुधार्त्तः संछालीन्कवलयति शाकादिवलितान।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढ़तरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधैः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

भावार्थ - प्यासे होने पर स्वादिष्ट और सुगन्धित जल-पान, भूखे होने पर शाकादि के साथ चावलों का भोजन और हृदय में अनुरागाग्नि के प्रज्वलित होने पर प्रियात्मा का आलिंगन करन वाले मनुष्य विलक्षण मूर्ख हैं। क्योंकि प्यास आदि व्याधियों की शान्ति के लिए जल-पान आदि प्रतीकारों ही को वे सुख समझते हैं। वे नहीं जानते कि उनका यह उपचार बिलकुल ही उलटा है। देखिए, यहाँ पर कवि ने कैसी विलक्षण उक्ति के द्वारा मनुष्य की सुख:दुख विषयक बुद्धि की भ्रामिकता दिखलाई है। अंग्रेजों में भी पोप कवि इस विषय में बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धान्त लिखा जाता है- "भविष्यत् में क्या होने वाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिए दी गई है, जिसमें सब लोग, आने वाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठें." इसी बात को पोप कवि इस तरह कहता है-

The lamb thyariot dooms to bleed to day
Had he thy reason would he skip and play\
Pleased to the last he crops the flow*ry food
And licks the hand just raised to shed his blood-
The blindness to the future kindly givenA Essay on man-

भावार्थ - उस भेड़ के बच्चे को, जिसका तू आज रक्त बहाना चाहता है, यदि तेरा ही सा ज्ञान होता तो क्या वह उछलता कूदता फिरता? अन्त तक वह आनन्दपूर्वक चारा खाता है और उस हाथ को चाटता है, जो उसका रक्त बहाने के लिए उठाया गया है। भविष्यत् का अज्ञान हमें (ईश्वर ने) बड़ी कृपा करके दिया है। 'अनिष्ट' शब्द बहुत व्यापक और संदिग्ध है, अत: कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि परम अज्ञानी पशु भी मृत्यु सिर पर नाचते रहते भी सुखी रहता है। यहाँ तक कि वर प्रहारकर्ता के हाथ को चाटता जाता है। यह एक अद्‌भुत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धान्त को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है। एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए।

"तुमने उससे विवाह किया" यह एक बहुत ही साधारण वाक्य है, पर "तुमने उसका हाथ पकड़ा" यह एक विशेष अर्थ-गर्भित और काव्योचित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अन्तर्गत बहुत से विधान हैं, जिन सब पर कोई एक दफे दृष्टि नहीं डाल सकता। अत: उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण उन विधानों में से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुन कर कवि अपने अर्थ को मनुष्य के हृत्पटल पर रेखांकित करता है।

श्रुति सुखदाता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अन्तर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरत:" वाली बात हमारी पण्डित मण्डली में बहुत दिन से चली आती है। भाव-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अन्त्यानुप्रास का बन्धन, इस नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए है। बिना इसके कविता करना, अथवा केवल इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिए। हिन्दी के कुछ पुराने कवि इसी नाद-सौन्दर्य के इतना पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्राय: भावशून्य हो गई है। यह देखकर आजकल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अन्त्यानुप्रास का बन्धन खलता है, कोई गणात्मक द्वन्द्वों को देखकर नाक भौं चढ़ाता है, कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छन्दोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं- वह छन्दो रचना, जिसके माधुर्य को भूमण्डल के किसी देश का छन्द शास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुति-सुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है, जो लोग अन्त्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अन्त्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छन्द (Metre) और तुक (Rhyme) दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश्य से रखे गए हैं। फिर क्यों एक को निकाला जाए दूसरे को नहीं? यदि कहा जाए कि सिर्फ छन्द से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिए नाद-सौन्दर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भाव-सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नाद-सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्धक है, उसके बल

से कविता ग्रंथाश्रय-विहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिहवा पर बनी रहती है। अतएव इस नाद-सौन्दर्य को केवल बन्धन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है। नाद-सौन्दर्य संबंधी नियमों को गणित-क्रिया समान काम में लाने से हमारी कविता में कहीं-कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुति-कटु वर्णों का निर्देश इसलिए नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवण-कटु हैं, वे एकदम त्याज्य समझे जाएँ और उनकी जगह पर श्रवण-सुखद वर्ण ढूंढ-ढूंढ कर रखे जाएँ। इस नियम-निर्देश का मतलब सिर्फ इतना ही है कि यदि मधुराक्षर वाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़ मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुति-कर्कश अक्षर वाले शब्द न लाए जाएँ। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में इस नाद-सौन्दर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अत: अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुति-मधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है। एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप या कार्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। पद्य के नपे हुए चरणों के लिए शब्दों की संख्या का बढ़ाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है, पर विचार करने से इसका इससे भी गुरूतर उद्देश्य प्रगट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिए की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं, जिनसे कविता की परिपोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है, जो स्वाभाविक होने के कारण सुनने वाले के ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे– यदि कोई मनुष्य किसी दुर्घर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए - 'हे गोपिकारमण!' 'हे वृन्दावनबिहारी!' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि!' 'हे कंसनिकंदन' आदि सम्बोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों को मारा जाना देख कर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है न कि उनकी वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देख

कर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को 'मुरलीधर' कह कर पुकारने की अपेक्षा 'गिरिधर' कहना अधिक तर्क-संगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है- उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। कल्पना को चटकीली करने और रस-परिपाक के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है और कभी घटाकर। कल्पना-तरंग को ऊँचा करने के लिए कभी-कभी वस्तु के रूप और गुण को उसके समान रूप और धर्म वाली और वस्तुओं के सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न-भिन्न प्रकार की वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। ये अलंकार बोलचाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे- लोग कहते हैं 'जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भंटा भूनते क्या लगता है?' इसमें काव्यार्थापत्ति अलंकार है। 'क्या हमसे बैर करके तुम यहाँ टिक सकते हो?' इसमें वक्रोक्ति है। कई वर्ष हुए 'अलंकारप्रकाश' नामक पुस्तक के कर्ता का एक लेख 'सरस्वती' में निकला था। उसका नाम था- 'कवि और काव्य'। उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हें काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि 'आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्य विषय में कुछ परिवर्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्वलोकमान्य साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन किए हुए व्यंग्य-अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट न समझ केवल सृष्टि-वैचित्र्य वर्णन में काव्यत्व समझते हैं। यदि ऐसा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?' रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। अलंकारों को वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम करने के लिए ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्य-प्रकाश के कर्ता मम्मटाचार्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है- "तददौषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि." किन्तु पीछे से इन अलंकारों ही में काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगम प्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक पड़े।

धीरे-धीरे इन अलंकारों के लिए आग्रह होने लगा। यहाँ तक कि चन्द्रालोककार ने कह डाला कि-

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

अर्थात् - जो अलंकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता? परन्तु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है। इतने दिनों पीछे समय ने अब पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह बात प्रगट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है। इस विषय में पूर्वोक्त ग्रंथकार महोदय को एक बात कहनी थी, पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टि-वैचित्य-वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं। वह अलंकारों की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें उस प्रणाली के अन्तर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं। यह बात अलंकारों की परीक्षा से स्पष्ट हो जाएगी। स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु का निर्देश है, पर वस्तु-निर्वाचन अलंकार का काम नहीं। इससे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकारों में गिनने वालों ने बहुत सिर खपाया है, पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कर सके। काव्य-प्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है-

स्वभावोक्तिवस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारुपवर्णनम

अर्थात- जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो, वह स्वभावोक्ति है। बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बालकादिक कहने से किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रुप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकारसर्वस्व के कर्ता राजानक रूय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है-

सूक्ष्मवस्तु स्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात्- वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का ठीक-ठीक वर्णन करना स्वभावोक्ति है। आचार्य दण्डी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है-

नानावस्थं पदार्थनां रुपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अंतर्गत आ ही नहीं सकती, क्योंकि वह वर्णन की शैली नहीं, किन्तु वर्ण्य वस्तु या विषय है। जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार अस्वाभाविक भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार-स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती। महाराज भोज ने भी अलंकार को 'अलमर्थमलंकर्तुः' अर्थात् सुन्दर अर्थ को शोभित करने वाला ही कहा है। इस कथन से अलंकार आने के पहले ही कविता की सुन्दरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूंढना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से ऐसे काव्योदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनको अलंकार के प्रेमीलोग भी भद्दा और नीरस कहने में संकोच न करेंगे। इसी तरह बहुत से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनमें एक भी अलंकार नहीं, परंतु उनके सौन्दर्य और मनोरंजकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रस संचार न हो – उसकी मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो – वे कदापि काव्य नहीं। अलंकारशास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं, जो केवल शब्द चातुरी मात्र हैं। उसी शब्दकौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रस-संचार नहीं होता। वे कान को चाहे चमत्कृत करें, पर मानव-हृदय से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं। उनका चमत्कार शिल्पकारों की कारीगरी के समान सिर्फ शिल्प-प्रदर्शनी में रखने योग्य होता है। अलंकार है क्या वस्तु? विद्वानों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णन शैली से सौन्दर्य का कारण ढूंढा। तब वर्णन-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण बनाए। जैसे 'विकल्प' अलंकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुन्दर-सुन्दर स्थल थे सब ढूंढ डाले गए, अथवा जो सुन्दर समझे गए – जिन्हें लक्ष्य करने लक्षण बने- उनकी सुन्दरता का कारण कही हुई वर्णन प्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुका रहा। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने – "मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रखकर नहीं किया। अलंकार लक्षणों के बनने से बहुत पहले कविता होती थी और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए की जब से इन अलंकारों को हठात् लाने का उद्योग होने लगा, तबसे कविता कुछ बिगड़ चली।

2

आदिकालीन हिन्दी काव्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।अतिरिक्त संवेदी बोध (ईएसपी) में ऐसी जानकारी शामिल होती है, जो ज्ञात भौतिक चेतना के माध्यम से हासिल नहीं होती, लेकिन जिसका भान, बुद्धि द्वारा होता है। इस शब्द को सर रिचर्ड बर्टन द्वारा गढ़ा गया था, तथ्य वांछित, और मानसिक क्षमताओं की जानकारी देने के लिए ड्यूक विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक जे.बी. राइन द्वारा इसे अपनाया गया था, जैसे– टेलिपैथी और पेशनीगोई और उनकी निरूपित संक्रीया जैसे पूर्व बोध या पूर्वव्यापी बोध. को कभी-कभी लापरवाही से दिव्य दृष्टि, आंत वृत्ति या कूबड़ कहा जाता है, जो कि अंग्रेजी के पुराने मुहावरे हैं। इस शब्द का अर्थ है विज्ञान के मूल प्रतिबंधक अनुमानों से इतर माध्यमों द्वारा जानकारी का अधिग्रहण, जैसे कि जीव अतीत से वर्तमान के लिए जानकारी प्राप्त कर सकता है।

परामनोविज्ञान, असाधारण मानसिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें ईएसपी शामिल होता है। आम तौर पर परामनोवैज्ञानिक ईएसपी की मौजूदगी के सबूत के लिए गांजफेल्ड प्रयोग जैसे परीक्षणों को देखते हैं। आधार सबूत के अभाव, ईएसपी को समझाने वाले सिद्धातों की कमी और प्रयोगात्मक तकनीक की कमी जो कि विश्वसनीय सकारात्मक परिणाम प्रदान कर सकटी है, के कारण वैज्ञानिक समुदाय, ईएसपी को खारिज कर देते हैं। आदिकाल हिंदी साहित्य का एक युग की तरह है, जिसको यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे वीर-गाथा काल माना है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल।

ग्यारहवीं सदी के लगभग देशभाषा हिन्दी का रूप अधिक स्फुट होने लगा। उस समय पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गए थे। ये परस्पर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों से प्रायः युद्धरत रहा करते थे। इन्हीं राजाओं के संरक्षण में रहनेवाले चारणों और भाटों का राजप्रशस्तिमूलक काव्य वीरगाथा के नाम से अभिहित किया गया। इन वीरगाथाओं को रासो कहा जाता है। इनमें आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम का ओजस्वी वर्णन करने के साथ ही उनके प्रेमप्रसंगों का भी उल्लेख है। रासो ग्रन्थों में संघर्ष का कारण प्रायः प्रेम दिखाया गया है। इन रचनाओं में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। रासो वीरगीत (बीसलदेवरासो और आल्हा आदि) और प्रबंधकाव्य (पृथ्वीराजरासो, खमनरासो आदि)—इन दो रूपों में लिखे गए। इन रासो ग्रन्थों में से अनेक की उपलब्ध प्रतियाँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हों पर इन वीरगाथाओं की मौखिक परंपरा अंसदिग्ध है। इनमें शौर्य और प्रेम की ओजस्वी और सरस अभिव्यक्ति हुई है।

हिंदी साहित्य के इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे वीर-गाथा काल नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की

प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामंत काल।

ग्यारहवीं सदी के लगभग देशभाषा हिंदी का रूप अधिक स्फुट होने लगा। उस समय पश्चिमी हिंदी प्रदेश में अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गए थे। ये परस्पर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों से प्रायः युद्धरत रहा करते थे। इन्हीं राजाओं के संरक्षण में रहनेवाले चारणों और भाटों का राजप्रशस्तिमूलक काव्य वीरगाथा के नाम से अभिहित किया गया। इन वीरगाथाओं को रासो कहा जाता है। इनमें आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम का ओजस्वी वर्णन करने के साथ ही उनके प्रेमप्रसंगों का भी उल्लेख है। रासो ग्रंथों में संघर्ष का कारण प्रायः प्रेम दिखाया गया है। इन रचनाओं में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। रासो वीरगीत (बीसलदेवरासो और आल्हा आदि) और प्रबंधकाव्य (पृथ्वीराजरासो, खमनरासो आदि)—इन दो रूपों में लिखे गए। इन रासो ग्रंथों में से अनेक की उपलब्ध प्रतियाँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हों पर इन वीरगाथाओं की मौखिक परंपरा असंदिग्ध है। इनमें शौर्य और प्रेम की ओजस्वी और सरस अभिव्यक्ति हुई है।

इसी कालावधि में मैथिल कोकिल विद्यापति हुए, जिनकी पदावली में मानवीय सौंदर्य और प्रेम की अनुपम व्यंजना मिलती है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका इनके दो अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। अमीर खुसरो का भी यही समय है। इन्होंने ठेठ खड़ी बोली में अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सखुन रचे हैं। इनके गीतों, दोहों की भाषा ब्रजभाषा है।

इस समय का साहित्य मुख्यतः चार रूपों में मिलता है—

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य।
2. जैन साहित्य।
3. चारणी-साहित्य।
4. प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

आम तौर पर परामनोवैज्ञानिक ईएसपी की मौजूदगी के सबूत के लिए गांजफेल्ड प्रयोग जैसे परीक्षणों को देखते हैं। आधार सबूत के अभाव, ईएसपी को समझाने वाले सिद्धातों की कमी और प्रयोगात्मक तकनीक की कमी जो कि

विश्वसनीय सकारात्मक परिणाम प्रदान कर सकटी है, के कारण वैज्ञानिक समुदाय, ईएसपी को खारिज कर देते हैं। के महासुखवाद के विरोध में नाथ पंथ का उदय हुआ। नाथों की संख्या नौ है। इनका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर भाग है। इन्होंने सिद्धों द्वारा अपनाये गये पंचमकारों का नकार किया। नारी भोग का विरोध किया। इन्होंने बाह्याडंबरों तथा वर्णाश्रम का विरोध किया और योगमार्ग तथा कृच्छ साधना का अनुसरण किया। ये ईश्वर को घट–घट वासी मानते हैं। ये गुरु को ईश्वर मानते हैं। नाथ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण गोरखनाथ हैं। इनकी रचना गोरखबाणी नाम से प्रकाशित है।यह साहित्य उस समय लिखा गया, जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। सिद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई हैं। सरहपा (सरोजपाद अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे, उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया, जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ–साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ–संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरन्गीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि हैं। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी–कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत–साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।सिद्धों की भोग–प्रधान योग–साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदिकाल में नाथपंथियों की हठयोग साधना आरम्भ हुई। इस पंथ को चलाने वाले मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) माने जाते हैं। इस पंथ के साधक लोगों को योगी, अवधूत, सिद्ध, औघड़ कहा जाता है। कहा यह भी जाता है कि सिद्धमत और नाथमत एक ही हैं। सिद्धों की भोग–प्रधान योग–साधना की प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया, जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ–साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकिथत नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ–संप्रदाय में

गोरखनाथ सबसे महत्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरन्गीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख किव है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

गोरक्षनाथ के जन्मकाल पर विद्वानों में मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन इनका जन्मकाल 845 ई. की 13वीं सदी का मानते हैं। नाथ परम्परा की शुरुआत बहुत प्राचीन रही है, किंतु गोरखनाथ से इस परम्परा को सुव्यवस्थित विस्तार मिला। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे। दोनों को चौरासी सिद्धों में प्रमुख माना जाता है।गुरु गोरखनाथ को गोरक्षनाथ भी कहा जाता है। इनके नाम पर एक नगर का नाम गोरखपुर है। गोरखनाथ नाथ साहित्य के आरम्भकर्ता माने जाते हैं। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं भगवान शिव को माना जाता है। शिव की परम्परा को सही रूप में आगे बढ़ाने वाले गुरु मत्स्येन्द्रनाथ हुए। ऐसा नाथ सम्प्रदाय में माना जाता है।गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय थे, जिनका नाथ सम्प्रदाय में विलय हो गया। शैव एवं शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योग मार्गी भी उनके सम्प्रदाय में आ मिले थे।गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं तथा साधना में योग के अंग क्रिया-योग अर्थात तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणीधान को अधिक महत्व दिया है। इनके माध्यम से ही उन्होंने हठयोग का उपदेश दिया। गोरखनाथ शरीर और मन के साथ नए-नए प्रयोग करते थे। गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या 40 बताई जाती है, किन्तु डा. ब्थ्याल ने केवल 14 रचनाएं ही उनके द्वारा रचित मानी है, जिसका संकलन 'गोरखबानी' में किया गया है।

जनश्रुति अनुसार उन्होंने कई कठिन (आड़े-तिरछे) आसनों का आविष्कार भी किया। उनके अजूबे आसनों को देख लोग अचम्भित हो जाते थे। आगे चलकर कई कहावतें प्रचलन में आई। जब भी कोई उल्टे-सीधे कार्य करता है तो कहा जाता है कि 'यह क्या गोरखधंधा लगा रखा है।'

गोरखनाथ का मानना था कि सिद्धियों के पार जाकर शून्य समाधि में स्थित होना ही योगी का परम लक्ष्य होना चाहिए। शून्य समाधि अर्थात समाधि से मुक्त हो जाना और उस परम शिव के समान स्वयं को स्थापित कर ब्रह्मलीन

हो जाना, जहाँ पर परम शक्ति का अनुभव होता है। हठयोगी कुदरत को चुनौती देकर कुदरत के सारे नियमों से मुक्त हो जाता है और जो अदृश्य कुदरत है, उसे भी लाँघकर परम शुद्ध प्रकाश हो जाता है।

सिद्ध योगी : गोरखनाथ के हठयोग की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले सिद्ध योगियों में प्रमुख हैं–चौरंगीनाथ, गोपीनाथ, चुणकरनाथ, भर्तृहरि, जालन्श्रीपाव आदि। 13वीं सदी में इन्होंने गोरख वाणी का प्रचार-प्रसार किया था। यह एकेश्वरवाद पर बल देते थे, ब्रह्मवादी थे तथा ईश्वर के साकार रूप के सिवाय शिव के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं मानते थे।

नाथ सम्प्रदाय गुरु गोरखनाथ से भी पुराना है। गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय के बिखराव और इस सम्प्रदाय की योग विद्याओं का एकत्रीकरण किया। पूर्व में इस समप्रदाय का विस्तार असम और उसके आस-पास के इलाकों में ही ज्यादा रहा, बाद में समूचे प्राचीन भारत में इनके योग मठ स्थापित हुए। आगे चलकर यह सम्प्रदाय भी कई भागों में विभक्त होता चला गया।

सिद्ध साहित्य के इतिहास में चौरासी सिद्धों का उल्लेख मिलता है। सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिये, जो साहित्य जनभाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध साहित्य की सीमा में आता है

सिद्ध सरहपा (सरहपाद, सरोजवज्र, राहुल भ्रद्र) से सिद्ध सम्प्रदाय की शुरुआत मानी जाती है। यह पहले सिद्ध योगी थे। जाति से यह ब्राह्मण थे। राहुल सांकृत्यायन ने इनका जन्मकाल 769 ई. का माना, जिससे सभी विद्वान सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रंथ बताए जाते हैं, जिनमे से 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया तथा गुरू सेवा को महत्व दिया। इनके बाद इनकी परम्परा को आगे बढ़ाने वाले प्रमुख सिद्ध हुए हैं क्रमशः इस प्रकार हैं–

शबरपा : इनका जन्म 780 ई. में हुआ। यह क्षत्रिाय थे। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। इनकी कविता का उदाहरण देखिये–

हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला।
षुकये सेरे कपासु घुटिला।
तइला वाजिर पासेर जोहणा वाडि ताएला।
घिटेली अंधारि रे आकासु घुलिआ।

लुइपा : ये राजा धर्मपाल के राज्यकाल में कायस्थ परिवार में जन्मे थे। शबरपा ने इन्हें अपना शिष्य माना था। चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। उड़ीसा के तत्कालीन राजा और मंत्री इनके शिष्य हो गए थे।

जैन साहित्य

ऐतिहसिक जानकारी हेतु जैन साहित्य भी बौद्ध साहित्य की ही तरह महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक उपलब्ध जैन साहित्य प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में मिलतें है। जैन साहित्य के विशेषज्ञ तथा अनुसन्धानपूर्ण लेखक अगरचन्द नाहटा थे। जैन साहित्य, जिसे 'आगम' कहा जाता है, इनकी संख्या 12 बतायी जाती है। आगे चलकर इनके 'उपांग' भी लिखे गये। आगमों के साथ-साथ जैन ग्रंथों में 10 प्रकीर्ण, 6 छंद सूत्र, एक नंदि सूत्र एक अनुयोगद्वार एवं चार मूलसूत्र हैं। इन आगम ग्रंथों की रचना सम्भवत: 'वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो द्वारा महावीर स्वामी की मृत्यु के बाद की गयी।

बारह आगम इस प्रकार हैं-

1. आचरांग सुत्त, 2. सूर्यकडंक, 3. थापंग, 4. समवायांग, 5. भगवतीसूत्र, 6. न्यायधम्मकहाओ, 7. उवासगदसाओं, 8. अन्तगडदसाओ, 9. अणुत्तरोववाइयदसाओं, 10. पण्हावागरणिआई, 11. विवागसुयं, और 12 द्विट्ठि वाय।

इन आगम ग्रंथो के 'आचरांगसूत्त' से जैन भिक्षुओं के विधि-निषेधों एवं आचार-विचारों का विवरण एवं 'भगवतीसूत्र' से महावीर स्वामी के जीवन-शिक्षाओं आदि के बारे में उपयुक्त जानकारी मिलती है, जो इस प्रकार हैं- 1. औपपातिक, 2. राजप्रश्नीय, 3. जीवाभिगम, 4. प्रज्ञापणा, 5. सूर्यप्रज्ञप्ति, 6. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 7. चन्दप्रज्ञप्ति, 8. निर्यावलिका, 9. कल्पावंतसिका, 10. पुष्पिका, 11. पुष्पचूलिका और 12. वृष्णिदशा।

आगम ग्रंन्थों के अतिरिक्त 10 प्रकीर्ण इस प्रकार हैं- 1. चतु:शरण, 2. आतुर प्रत्याख्यान, 3. भक्तिपरीज्ञा, 4. संस्तार, 5. तांदुलवैतालिक, 6. चंद्रवेध्यक, 7. गणितविद्या, 8. देवेन्द्रस्तव, 9. वीरस्तव और 10.महाप्रत्याख्यान।

छेदसूत्र की संख्या 6 है- 1. निशीथ, 2. महानिशीथ, 3. व्यवहार, 4. आचारदशा, 5. कल्प और 6. पंचकल्प आदि।

एक नंदि सूत्र एवं एक अनुयोग द्वारा जैन धर्म अनुयायियों के स्वतंत्र ग्रंथ एवं विश्वकोष हैं।

जैन साहित्य में पुराणों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिन्हें 'चरित' भी कहा जाता है। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में लिखें गयें हैं। इनमें पद्म पुराण, हरिवंश पुराण, आदि पुराण, इत्यादि उल्लेखनीय हैं। जैन पुराणों का समय छठी शताब्दी से सोलहवीं-सत्रवहीं शताब्दी तक निर्धारित किया गया है।

जैन ग्रंथों में परिशिष्ट पर्व, भद्रबाहुचरित, आवश्यकसूत्र, आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र, कालिकापुराणा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनसे ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना मिलती है।

भारतीय धर्मग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का प्रयोग इतिहास के अर्थ में आता है। कितने विद्वानों ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनों ही विभिन्न हैं। इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी अपनी विशेषता रखते हैं। इतिहास जहाँ घटनाओं का वर्णन कर निर्वृत्त हो जाता है, वहीं पुराण उनके परिणाम की ओर पाठक का चित्त आकृष्ट करता है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितान्येव पुराणं पंचलक्षणम्।

जिसमें सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्पराओं का वर्णन हो, वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पाँच लक्षण हैं। तात्पर्य यह कि इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्त फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में जहाँ केवल वर्तमान की घटनाओं का उल्लेख रहता है वहीं पुराण में नायक के अतीत और अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग, परोपकार और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। मानव के जीवन-निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण

की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है। आगे विस्तार में पढ़ें:- जैन पुराण साहित्य

जैन आचार-मीमांसा

जैन धर्म के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पूर्णता हेतु श्रावक या गृहस्थधर्म (श्रावकाचार) पूर्वार्ध है और श्रमण या मुनिधर्म (श्रमणाचार) उत्तरार्ध। श्रमणधर्म की नींव गृहस्थ धर्म पर मजबूत होती है। यहाँ गृहस्थ धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका इसलिए भी है क्योंकि श्रावकाचार की भूमिका में एक सामान्य गृहस्थ त्याग और भोग-इन दोनों को समन्वयात्मक दृष्टि में रखकर आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होता है। अत: प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम श्रावकाचार का स्वरूप विवेचन आवश्यक है। आगे विस्तार में पढ़ें:- जैन आचार-मीमांसा

गोम्मट पंजिका

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (10वीं शती) द्वारा प्राकृत भाषा में लिखित गोम्मटसार पर सर्वप्रथम लिखी गई यह एक संस्कृत पंजिका टीका है।

इसका उल्लेख उत्तरवर्ती आचार्य अभयचन्द्र ने अपनी मन्दप्रबोधिनी टीका में किया है।

इस पंजिका की एकामात्र उपलब्ध प्रति (सं0 1560) पं. परमानन्द जी शास्त्री के पास रही।

इस टीका का प्रमाण पाँच हजार श्लोक है।

इस प्रति में कुल पत्र 98 हैं। आगे विस्तार में पढ़ें:- गोम्मट पंजिका

गोम्मटसार जीवतत्त्व प्रदीपिका

यह टीका केशववर्णी द्वारा रचित है।

उन्होंने इसे संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं में लिखा है।

जैसे- वीरसेन स्वामी ने अपनी संस्कृत प्राकृत मिश्रित धवला टीका द्वारा षट्खंडागम के रहस्यों का उद्घाटन किया है उसी प्रकार केशववर्णी ने भी अपनी इस जीवतत्त्व प्रदीपिका द्वारा जीवकाण्ड के रहस्यों का उद्घाटन कन्नड़ मिश्रित संस्कृत में किया है। आगे विस्तार में पढ़ें:- गोम्मटसार जीवतत्त्व प्रदीपिका

जयधवल टीका

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला की पूर्णता के पश्चात् शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार्य गुणधर द्वारा विरचित कसायपाहुड की टीका जयधवला का कार्य आरंभ किया और जीवन के अंतिम सात वर्षों में उन्होंने उसका एक तिहाई भाग लिखा। तत्पश्चात् शक सं0 745 में उनके दिवंगत होने पर शेष दो तिहाई भाग उनके योग्यतम शिष्य जिनसे नाचार्य (शक सं0 700 से 760) ने पूरा किया। 21 वर्षों की सुदीर्घ ज्ञानसाधना की अवधि में यह लिखी जाकर शक सं0 759 में पूरी हुई।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने सर्वप्रथम संस्कृत महाकाव्य पार्श्वाभ्युदय की रचना में की थी। इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। उसके पूर्वभाग- 'आदिपुराण' के 42 सर्ग ही वे बना पाए थे और दिवंगत हो गए। शेष की पूर्ति उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने की। आगे विस्तार में पढ़ें:- जयधवल टीका

जीवतत्त्व प्रदीपिका

1. यह नेमिचन्द्रकृत चतुर्थ टीका है।
2. तीसरी टीका की तरह इसका नाम भी जीवतत्त्व प्रदीपिका है।
3. यह केशववर्णी की कर्नाटकवृत्ति में लिखी गई संस्कृत मिश्रित जीवतत्त्व प्रदीपिका का ही संस्कृत रूपान्तर है।
4. इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भिन्न और उत्तरवर्ती नेमिचन्द्र हैं।
5. ये नेमिचन्द्र ज्ञानभूषण के शिष्य थे।
6. गोम्मटसार के अच्छे ज्ञाता थे। इनका कन्नड़ तथा संस्कृत दोनों पर समान अधिकार है। यदि इन्होंने केशववर्णी की टीका को संस्कृत रूप नहीं दिया होता तो पं. टोडरमल जी हिन्दी में लिखी गई अपनी सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नहीं लिख पाते।
7. ये नेमिचन्द्र गणित के भी विशेषज्ञ थे। आगे विस्तार में पढ़ें:- जीवतत्त्व प्रदीपिका

जैन साहित्य के क्षेत्र में जैन साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने बीसवीं सदी में एक कीर्तिमान उपस्थित किया है। उन्होंने न्याय- व्याकरण- छंद -अलंकार- सिद्धान्त- अध्यात्म- काव्य- पूजन आदि सभी

प्रकार का साहित्य रचा है। उनकी 250 से अधिक पुस्तकें जम्बूद्वीप – हस्तिनापुर से प्रकाशित हुई हैं। षट्खण्डागम ग्रंथों पर उन्होंने 16 पुस्तकों की सिद्धांतचिन्तामणि नामक संस्कृत टीका लिखकर आचार्य श्री वीरसेनस्वामी की याद को ताजा कर दिया है। वर्तमान युग में संस्कृत टीका लिखने वाली मात्र एक ही साध्वी हैं। इन ग्रंथों की हिन्दी टीका उनकी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने किया है, जिनकी 10 पुस्तकें छप चुकी हैं। उन्हें मँगाकर आप स्वाध्याय कर सकते हैं। संस्कृत की सोलहों पुस्तकें छप चुकी हैं।

आगम

भगवान महावीर के उपदेश जैन धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, जिन्हें 'आगम' कहा जाता है।

वे अर्धमागधी प्राकृत भाषा में हैं। उन्हें आचारांगादि बारह 'अंगों' में संकलित किया गया, जो 'द्वादशंग आगम' कहे जाते हैं।

वैदिक संहिताओं की भाँति जैन आगम भी पहले श्रुत रूप में ही थे।

महावीर जी के बाद भी कई शताब्दियों तक उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

अतिरिक्त संवेदी बोध (ईएसपी) में ऐसी जानकारी शामिल होती है, जो ज्ञात भौतिक चेतना के माध्यम से हासिल नहीं होती, लेकिन जिसका भान, बुद्धि द्वारा होता है। इस शब्द को सर रिचर्ड बर्टन द्वारा गढ़ा गया था,ख्तथ्य वांछित, और मानसिक क्षमताओं की जानकारी देने के लिए ड्यूक विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक जे.बी. राइन द्वारा इसे अपनाया गया था, जैसे– टेलिपैथी और पेशनीगोई और उनकी निरूपित संक्रीया जैसे पूर्व–बोध या पूर्वव्यापी बोध. भ्च् को कभी–कभी लापरवाही से दिव्य दृष्टि, आंत वृत्ति या कूबड़ कहा जाता है, जो कि अंग्रेजी के पुराने मुहावरे हैं। इस शब्द का अर्थ है विज्ञान के मूल प्रतिबंधक अनुमानों से इतर माध्यमों द्वारा जानकारी का अधिग्रहण, जैसे कि जीव अतीत से वर्तमान के लिए जानकारी प्राप्त कर सकता है।

परामनोविज्ञान, असाधारण मानसिक तथ्यों का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें ईएसपी शामिल होता है। आम तौर पर परामनोवैज्ञानिक ईएसपी की मौजूदगी के सबूत के लिए गांजफेल्ड प्रयोग जैसे परीक्षणों को देखते हैं। आधार सबूत के अभाव, ईएसपी को समझाने वाले सिद्धातों की कमी और प्रयोगात्मक

तकनीक की कमी जो कि विश्वसनीय सकारात्मक परिणाम प्रदान कर सकटी है, के कारण वैज्ञानिक समुदाय, ईएसपी को खारिज कर देते हैं। के महासुखवाद के विरोध में नाथ पंथ का उदय हुआ। नाथों की संख्या नौ है। इनका क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर भाग है। इन्होंने सिद्धों द्वारा अपनाये गये पंचमकारों का नकार किया। नारी भोग का विरोध किया। इन्होंने बाह्याडंबरों तथा वर्णाश्रम का विरोध किया और योगमार्ग तथा कृच्छ साधना का अनुसरण किया। ये ईश्वर को घट-घट वासी मानते हैं। ये गुरु को ईश्वर मानते हैं। नाथ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण गोरखनाथ हैं। इनकी रचना गोरखबाणी नाम से प्रकाशित है।जैन साहित्य बहुत विशाल है। अधिकांश में वह धार्मिक साहित्य ही है।

महावीर की प्रवृत्तियों का केंद्र मगध रहा है, इसलिये उन्होंने यहाँ की लोकभाषा अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया जो उपलब्ध जैन आगमों में सुरक्षित है। ये आगम 45 हैं और इन्हें 'वेतांबर जैन प्रमाण मानते हैं, दिगंबर जैन नहीं। दिंगबरों के अनुसार आगम साहित्य कालदोष से विच्छिन्न हो गया है। दिगंबर षट्खंडागम को स्वीकार करते हैं, जो 12वें अंगदृष्टिवाद का अंश माना गया है। दिगंबरों के प्राचीन साहित्य की भाषा शौरसेनी है। आगे चलकर अपभ्रंश तथा अपभ्रंश की उत्तरकालीन लोक-भाषाओं में जैन पंडितों ने अपनी रचनाएँ लिखकर भाषा साहित्य को समृद्ध बनाया।

आदिकालीन साहित्य में जैन साहित्य के ग्रन्थ सर्वाधिक संख्या में और सबसे प्रमाणिक रूप में मिलते हैं। जैन रचनाकारों ने पुराण काव्य, चरित काव्य, कथा काव्य, रास काव्य आदि विविध प्रकार के ग्रंथ रचे। स्वयंभू, पुष्प दंत, हेमचंद्र, सोमप्रभ सूरी आदि मुख्य जैन कवि हैं। इन्होंने हिंदुओं में प्रचलित लोक कथाओं को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाया और परंपरा से अलग उसकी परिणति अपने मतानुकूल दिखाई।संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में यह साहित्य लिखा गया है।

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए

अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

जैन साहित्य की रास परक रचनायें

भारत के पश्चिमीभाग में जैन साधुओं ने अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया। इन्होंने "रास" को एक प्रभावशाली रचनाशैली का रूप दिया। जैन तीर्थंकरो के जीवन चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथायें जैन-आदर्शो के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गयी। अत: जैन साहित्य का सबसे प्रभावशाली रूप 'रास' ग्रंथ बन गये। वीरगाथाओं में रास कोही रासो कहा गया, किन्तु उनकी विषय भूमि जैन ग्रंथो से भिन्न हो गई। आदिकाल में रचितप्रमुख हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. उपदेशरसायन रास-यह अपभ्रंश की रचना है एवं गुर्जर प्रदेश में लिखी गई हैं। इसके रचयिता श्री जिनदत्त सूरि हैं। कवि की एक और कृत्ति "कालस्वरुपकुलक' 1200 वि.के आस-पास की रही होंगी। यह "अपभ्रंश काव्य त्रायी' में प्रकाशित है और दूसरा डॉ. दशरथ ओझा और डॉ. दशरथ शर्मा के सम्पादन में रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित किया गया है।

2. भरतेश्वरबाहुबलि रास- शालिभद्र सूरि द्वारा लिखित इस रचना के दो संस्करण मिलते हैं। पहला प्राच्य विद्या मन्दिर बघैदा से प्रकाशित किया गया है तथा दूसरा "रास' और रासान्वयीकाव्य' में प्रकाशित हुआ है। कृति में रचनाकाल सं. 1231वि.दिया हुआ है। इसकी छन्द संख्या 203 है। इसमें जैन तीर्थकरषभदेव के पुत्राों भरतेश्वर और बाहुबलि में राजगद्दी के लिए हुए संघर्ष का वर्णन है।

3. बुद्धिरास- यह सं. 1241 के आस-पास की रचना है। इसके रचयित शालिभद्रसूरि हैं। कुछ छन्द संख्या 63 है। यह उपदेश परक रचना है। यह भी"रास और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित है।

4. जीवदयारास-यह रचना जालोर पश्चिमी राजस्थान की है। "रास और रासान्वयी काव्य में संकलित है। इसके रचयिता कवि आसगु हैं। सं. 1257 वि. में रचित इसरचना में कुल53 छन्द हैं।

5. चन्दरवाला रास–जीवदया रास के रचनाकार आसगु की यह दूसरी रचना है। यह भी 1257वि. के आस–पास की रचना है। यह श्री अगर चन्द नाहटा द्वारा सम्पादित राजस्थान भारती में प्रकाशित है।

6. रेवंतगिरि रास– यह सोरठप्रदेश की रचना है। रचनाकार श्री विजय सेन सूरि हैं।यह सं.1288 वि. के आस–पास की रचना मानी जाती है। यह "प्राचीन गुर्जर काव्य' में प्रकाशित है।

7. नेतिजिणद रास या आबू रास– यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचनाकार पाल्हण एवंरचना काल सं. 1209 वि. है।

8. नेमिनाथरास– इसके रचयिता सुमति गण माने जाते हैं। कवि की एक अन्य कृति गणधरसार्ध शतक वृत्ति सं. 1295 की है। अत: यह रचना इस तिथि के आस–पास की रही होगी।

9. गयसुकमाल रास– यह रचना दो संस्करणों में मिली है, जिनके आधर पर अनुमानत:इसकी रचना तिथि लगभग सं. 1300 वि. मानी गई है। इसके रचनाकार देल्हणि है। श्रीअगरचन्द नाहटाद्वारा सम्पादित "राजस्थान भारती' पत्रिाका में प्रकाशित है तथा दूसरा

संस्करण "रास और रासान्वयी' काव्य में है।

10. सप्तक्षेत्रिासु रास– यह रचना गुर्जर प्रदेश की है। तथा इसका रचना काल सं.1327 वि. माना जाता है।

11. पेथरास– यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचना मंडलीक हैं।

12. कच्छूलिरास– यह रचना भी गुर्जर प्रदेश के अन्तर्गत है। रचना की तिथि सं.1363 वि. मानी जाती है।

13. समरा रास– यह अम्बदेव सूरि की रचना है। इसमें सं. 1361 तक की घटनाओं का उल्लेख होने से इसका रचनाकाल सं. 1371 के बाद माना गया है। यह पाटणगुजरात की रचनाहै।

14. पं पडवरास– शालिभद्र सूरि द्वारा रचित यह कृति सं. 1410 की रचना है। यह भीगुर्जर की रचना है। इसमें विभिन्न छन्दों की 795 पंक्तिया हैं।

15. गौतमस्वामी रास– यह सं. 1412 की रचना है। इसके रचनाकार विनय प्रभुउपाध्याय है।

16. कुमारपाल रास– यह गुर्जर प्रदेश की रचना है। रचनाकाल सं. 1435 के लगभग का है। इसके रचनाकार देवप्रभ हैं।

17. कलिकालरास– इसके रचयिता राजस्थान निवासी हीरानन्द सूरि हैं। यह सं. 1486की रचना है।

18. श्रावकाचार– देवसेन नामकप्रसिद्ध जैन आचार्य ने 933 ई. में इस काव्य की रचना की। इसके 250 दोहो में श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है।

चंदबरदाई

चंदबरदाई को हिंदी का पहला कवि और उनकी रचना पृथ्वीराज रासो को हिंदी की पहली रचना होने का सम्मान प्राप्त है। पृथ्वीराज रासो हिंदी का सबसे बड़ा काव्य–ग्रंथ है। इसमें 10,000 से अधिक छंद हैं और तत्कालीन प्रचलित 6 भाषाओं का प्रयोग किया गया है। इस ग्रंथ में उत्तर भारतीय क्षत्रिाय समाज व उनकी परंपराओं के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है, इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका बहुत महत्व है। वे भारत के अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज चौहान तृतीय के मित्र तथा राजकवि थे। पृथ्वीराज ने 1165 से 1192 तक अजमेर व दिल्ली पर राज किया। यही चंदबरदाई का रचनाकाल था। 1165 से 1192 के बीच जब पृथ्वीराज चौहान का राज्य अजमेर से दिल्ली तक फैला हुआ था, उसके राज कवि चंद बरदाई ने पृथ्वीराज रासो की रचना की। यह हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जा सकता है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान के जीवन और चरित्र का वर्णन किया गया है। चंद बरदाई पृथ्वीराज के बचपन के मित्र थे और उनकी युद्ध यात्राओं के समय वीर रस की कविताओं से सेना को प्रोत्साहित भी करते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है, जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का इसमें व्यवहार हुआ है। मुख्य छन्द हैं कवित्त (छप्पय), दूहा(दोहा), तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे– कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण भट्ट के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया गया है। रासो के अनुसार जब शाहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ में रासो को सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है–

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज।
रुनाथनचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराजसुजस कवि चंद कृत चंदनंद उद्धरिय तिमि॥

रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ अनेक स्थानों पर मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में संदेह करते है और उसे 16वीं शताब्दी में लिखा हुआ ग्रंथ ठहराते हैं। इस रचना की सबसे पुरानी प्रति बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में मिली है कुल 3 प्रतियां हैं। रचना के अन्त में पथ्वीराज द्वारा शब्द भेदी बाण चला कर गौरी को मारने की बात भी की गयी है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, चन्द वरदाई आदिकाल के श्रेष्ठ कवि थे। उनका जीवन काल बारहवीं शताब्दी में था। एक उत्तम कवि होने के साथ, वह एक कुशल योद्धा और राजनायक भी थे। वह पृथ्वीराज चौहान के अभिन्न मित्र थे। उनका रचित महाकाव्य "पृथ्वीराज रासो" हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इस महाकाव्य में 69 खण्ड हैं और इसकी गणना हिन्दी के महान ग्रन्थों में की जाती है। चन्द वरदाई के काव्य की भाषा पिंगल थी, जो कालान्तर में बृज भाषा के रूप में विकसित हुई। उनके काव्य में चरित्र चित्रण के साथ वीर रस और शृंगार रस का मोहक समन्वय है। किन्तु पृथ्वीराज रासो को पढ़ने से ज्ञात होता है कि महाराजा पृथ्वीराज चौहान ने जितनी भी लड़ाइयाँ लडीं, उन सबका प्रमुख उद्देश्य राजकुमारियों के साथ विवाह और अपहरण ही दिखाई पड़ता है। इंछिनी विवाह, पह्मावती समया, संयोगिता विवाह आदि अनेकों प्रमाण पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की शृंगार एवं विलासप्रियता की ओर भी संकेत करते हैं। पृथ्वीराज रासो के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं–

पद्मसेन कूँवर सुघर ताघर नारि सुजान।
ता उर इक पुत्री प्रकट, मनहुँ कला ससभान,
मनहुँ कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय,
बिगसि कमल-म्रिग, भ्रमर, बेनु, खंजन, म्रिग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब मोति, नष सिष अहि घुट्टिय,
छप्पति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचौ सँचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम-कामिनि रचिय,

मनहुँ काम-कामिनि रचिय, रचिय रूप की रास।
पसु पंछी मृग मोहिनी, सुर नर, मुनियर पास,
सामुद्रिक लच्छिन सकल, चौंसठि कला सुजान।
जानि चतुर्दस अंग खट, रति बसंत परमान,
सषियन संग खेलत फिरत, महलनि बग्ग निवास।
कीर इक्क दिष्षिय नयन, तब मन भयो हुलास,
मन अति भयौ हुलास, बिगसि जनु कोक किरन-रबि।
अरुन अधर तिय सुघर, बिंबफल जानि कीर छबि,
यह चाहत चष चकित, उह जु तक्किय झरंप्पि झर।
चंचु चहुट्टिय लोभ, लियो तब गहित अप्प कर,
हरषत अनंद मन मँह हुलस, लै जु महल भीतर गइय।
पंजर अनूप नग मनि जटित, सो तिहि मँह रष्षत भइय।।
तिहि महल रष्षत भइय, गइय खेल सब भुल्ल।
चित्त चहुँट्टयो कीर सों, राम पढ़ावत फुल्ल।
कीर कुंवरि तन निरषि दिषि, नष सिष लौं यह रूप।
करता करी बनाय कै, यह पद्मिनी सरूप,
कुट्टिल केस सुदेस पोहप रचयित पिक्क सद।
कमल-गंध, वय-संध, हंसगति चलत मंद मंद,
सेत वस्त्र सोहे सरीर, नष स्वाति बूँद जस।
भमर-भमहिं भुल्लहिं सुभाव मकरंद वास रस,
नैनन निरषि सुष पाय सुक, यह सुदिन्न मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहि राज प्रथिराज जिय,
(चंदबरदाई कत पथ्वीराजरासो से उद्धत)

"क्या पृथ्वीराज चौहान के बारे में हम सिर्फ इतना ही जानते हैं।
कि स्वयंवर के दौरान संयोगिता का हरण किया
और शब्द बेधी बाण चलाने में माहिर और जयचंद के साथ बैर।"

जगनिक का आल्हाखण्ड

कालिंजर के राजा परमार के आश्रय में जगनिक नाम के एक कवि थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों -आल्हा और ऊदल(उदयसिंह)-के

वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था, जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरी भारत में विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे–हो गया। जगनिक के काव्य का कहीं पता नहीं है, पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी भाषाभाषी प्रांतों के गांव–गांव में सुनाई देते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाये जाते हैं। गावों में जाकर देखिये तो मेघगर्जन के बीच किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह हुंकार सुनाई देगी–

बारह बरिस लै कूकर जीऐं ,औ तेरह लौ जिऐं सियार,
बरिस अठारह छत्री जिऐं ,आगे जीवन को धिक्कार।

इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई, अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ कालयात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है,वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नये अस्त्रों,(जैसे– बंदूक,किरिच), देशों और जातियों (जैसे– फिरंगी) के नाम सम्मिलित होते गये हैं और बराबर हो जाते हैं। यदि यह साहित्यिक प्रबंध पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती, पर यह गाने के लिये ही रचा गया था। इसमें पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा के लिये नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूंज बनी रही–पर यह गूंज मात्र है मूल शब्द नहीं।

आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है, पर बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है, वहाँ इसे गाने वाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में –विशेषतः महोबा के आस–पास भी इसका चलन बहुत है। आल्हा गाने वाले लोग अल्हैत कहलाते हैं।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हाखंड' कहते हैं, जिससे अनुमान मिलता है कि आल्हा संबंधी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे, जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और उदल परमार के सामंत थे और बनाफर शाखा के छत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हाखंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन

कलेक्टर मि.चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके छपवाया था।

आल्हाखंड में तमाम लड़ाइयों का जिक्र है। शुरूआत मांडौ की लड़ाई से है। माडौ के राजा करिंगा ने आल्हा-उदल के पिता जच्छराज-बच्छराज को मरवा के उनकी खोपड़ियां कोल्हू में पिरवा दी थीं। उदल को जब यह बात पता चली तब उन्होंने अपने पिताकी मौत का बदला लिया तब उनकी उमर मात्र 12 वर्ष थी।

आल्हाखंड में युद्ध में लड़ते हुये मर जाने को लगभग हर लड़ाई में महिमामंडित किया गया है–

मुर्चन-मुर्चन नचौ बेंदुला,उदल कहैं पुकारि-पुकारि,
भागि न जैयो कोऊ मोहरा ते यारों रखियो धर्म हमार।
खटिया परिके जौ मरि जैहौ,बुढी है सात साख को नाम
रन मा मरिके जौ मरि जैहौ,होइहै जुगन-जुगन लौं नाम।

अपने बैरी से बदला लेना सबसे अहम बात माना गया है–

'जिनके बैरी सम्मुख बैठे उनके जीवन को धिक्कार।'

इसी का अनुसरण करते हुये तमाम किस्से उत्तर भारत के बीहड़ इलाकों में हुये जिनमें लोगों ने आल्हा गाते हुये नरसंहार किये या अपने दुश्मनों को मौत के घाट उतारा।

पुत्र का महत्व पता चला है जब कहा जाता है–

जिनके लड़िका समरथ हुइगे उनका कौन पड़ी परवाह!

स्वामी तथा मित्र के लिये कुर्बानी दे देना सहज गुण बताये गये हैं–

जहां पसीना गिरै तुम्हारा तंह दै देऊं रक्त की धार।

आज्ञाकारिता तथा बड़े भाई का सम्मान करना का कई जगह बखान गया है।इक बार मेले में आल्हा के पुत्र इंदल का अपहरण हो जाता है। इंदल मेले में उदल के साथ गये थे। आल्हा ने गुस्से में उदल की बहुत पिटाई की–

हरे बांस आल्हा मंगवाये औ उदल को मारन लाग।

ऊदल चुपचाप मार खाते -बिना प्रतिरोध के। तब आल्हा की पत्नी ने आल्हा को रोकते हुये कहा–

हम तुम रहिबे जौ दुनिया में इंदल फेरि मिलैंगे आय
कोख को भाई तुम मारत हौ ऐसी तुम्हहिं मुनासिब नाय।

यद्यपि आल्हा में वीरता तथा अन्य तमाम बातों का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है तथापि मौखिक परम्परा के महाकाव्य आल्हाखण्ड का वैशिष्टय बुन्देली का अपना है। महोवा 12वीं शती तक कला केन्द्र तो रहा है, जिसकी चर्चा इस प्रबन्ध काव्य में है। इसकी प्रामाणिकता के लिए न तो अन्तःसाक्ष्य ही उपादेय और न बर्हिसाक्ष्य। इतिहास में परमार्देदेव की कथा कुछ दूसरे ही रुप में है, परन्तु आल्हा खण्ड का राजा परमाल एक वैभवशाली राजा है, आल्हा और ऊदल उसके सामन्त है। यह प्रबन्ध काव्य समस्त कमजोरियों के बावजूद बुन्देलों जन सामान्य की नीति और कर्त्तव्य का पाठ सिखाता है। बुन्देलखण्ड के प्रत्येक गांवों में घनघोर वर्षा के दिन आल्हा जमता है।

भरी दुपहरी सरवन गाइये, सोरठ गाइये आधी रात।
आल्हा पवाघ वादिन गाइये, जा दिन झड़ी लगे दिन रात॥

आल्हा भले ही मौखिक परम्परा से आया है, पर बुन्देली संस्कृति और बोली का प्रथम महाकाव्य है, जगनिक इसके रचयिता है। भाषा काव्य में बुन्देली बोली का उत्तम महाकाव्य स्वीकार किया जाना चाहिए। बुन्देली बोली और उसके साहित्य का समृद्ध इतिहास है और भाषा काव्यकाल में उसकी कोई भी लिखित कृति उपलब्ध नहीं है।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली का आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हो गया है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। आपके मधुर पदों के कारण आपको 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में आपकी रचनाएं मिलती हैं। आपकी पदावली का मुख्य रसशृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुंदर वर्णन, शृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह

हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

दामोदर पंडित

दामोदर पण्डित हिन्दी के प्रथम वैयाकरण थे। उनके द्वारा रचित उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण हिंदी-व्याकरण का पहला ग्रंथ है। इसका रचना काल 12वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। दामोदर पण्डित बनारस के निवासी थे बारहवीं सदी में दामोदर पंडित ने "उक्ति व्यक्ति प्रकरण' की रचना की। इसमें पुरानी अवधी तथा शौरसेनी ब्रज के अनेक शब्दों का उल्लेख प्राप्त है। बारहवीं शती के प्रारंभ में बनारस के दामोदर पंडित द्वारा रचित बोलचाल की संस्कृत भाषा सिखाने वाला ग्रंथ "उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण" से हिन्दी की प्राचीन कोशली या अवधी बोली के स्वरूप का कुछ बोध कराने में सहायता प्रदान करती हैं।

हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास एवं इतिहास के विचार से बारहवीं शती के प्रारम्भ में बनारस के दामोदर पंडित द्वारा रचित द्विभाषिक ग्रंथ 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' का विशेष महत्त्व है। यह ग्रंथ हिन्दी की पुरानी कोशली या अवधी बोली बोलने वालों के लिए संस्कृत सिखाने वाला एक मैनुअल है, जिसमें पुरानी अवधी के व्याकरणिक रूपों के समानान्तर संस्कृत रूपों के साथ पुरानी कोशली एवं संस्कृत दोनों में उदाहरणात्मक वाक्य दिये गये हैं।

उदाहरणस्वरूपः

पुरानी कोशली संस्कृत

को ए ? को*यम् ?

काह ए ? किमिदम् ?

काह ए दुइ वस्तु ? के एते द्वे वस्तुनी ?

काह ए सव ? कान्येतानि सर्वाणि ?

तेन्ह मांझं कवण ए ? तयोस्तेषां वा मध्ये कतमो*यम् ?

अरे जाणसि एन्ह मांझ कवण तोर भाई ? अहो जानास्येषां मध्ये कस्तव भ्राता ?

काह इंहां तूं करसि ? किमत्र त्वं करोषि ?

पअउं। पचामि।
काह करिहसि ? किं करिष्यसि ?
पढिहउं। पठिष्यामि।
को ए सोअ ? क एष स्वपिति ?
को ए सोअन्त आच्छ ? क एष स्वपन्नास्ते ?
अंधारी राति चोरु ढूक। अन्धकारितायां रात्रौ चौरो ढौकते।

ढोला मारू रा दूहा

ढोला मारू रा दूहा ग्यारहवीं शताब्दी में रचित एक लोक-भाषा काव्य है। मूलत: दोहो में रचित इस लोक काव्य को सत्रहवीं शताब्दी में कुशलराय वाचक ने कुछ चौपाईयां जोड़कर विस्तार दिया। इसमे राजकुमार ढोला और राजकुमारी मारू की प्रेमकथा का वर्णन है।

ढोला-मारू का कथानक

इस प्रेम वार्ता का कथानक, सूत्र में इतना ही है कि पूंगल का राजा अपने देश में अकाल पड़ने के कारण मालवा प्रान्त में, परिवार सहित जाता है। उसकी शिशु वय की राजकुमारी (मारवणी) का बाल-विवाह, मालवा के साल्हकुमार (ढोला) से कर दिया जाता है। सुकाल हो जाने से पूंगल का राजा लौट कर घर आ जाता है। साल्हकुमार वयस्क होने पर अपनी पत्नी को लिवाने नहीं जाता है। उसे इस बाल विवाह का ज्ञान भी नहीं होता है। इस बीच साल्हकुमार का विवाह मालवाणी से हो जाता है, जो सुन्दर और पति-अनुरक्ता है। मालवणी को मारवणी (सौत) के होने का ज्ञान है और पूंगल का कोई संदेश अपने मालवा में आने नहीं देती है।

कालांतर में मारवणी (मारू) अंकुरित यौवना होती है। उस पर यौवन अपना रंग दिखाता है। इधर स्वप्न में उसे प्रिय का दर्शन भी हो जाता है। पर्यावरण से सभी उपकरण उसे विरह का दारुण दु:ख देते हैं। पपिहा, सारस एवं कुंज पक्षीगण को वह अपनी विरह व्यथा सम्बोधित करती है। पूंगल के राजा के पास एक घोड़ों का सौदागर आता है और मालवा के साल्हकुमार की बात करता है। यह सूचना सुनकर मोरवणी और व्यथित हो जाती है। साल्हकुमार को बुलावा ढाढियों (माँगणहार) के द्वारा भेजा जाता है। यह गाने

बजाने वाले चतुर ढाढी गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर, साल्हकुमार (ढोला) को मारवणी की स्थिति का पूरा ज्ञान करा देते हैं। ढोला पूंगल हेतु प्रस्थान करना चाहता है, परन्तु सौत मालवणी उसे बहाने बनाकर रोकती रहती है। मालवणी की ईर्ष्या, चिन्ता, उन्माद, कपट, विरह और असहाय अवस्था का वर्णन दूहों में विस्तार से हुआ है। अन्त में ढोला प्रस्थान कर ही देता है और पूंगल पहुँच जाता है। ढोला और मारवणी का मिलन होता है। सुख विलास में समय व्यतीत होता है।

फिर पति-पत्नी अपने देश लौटते हैं तो मार्ग में ऊमर-सूमरा के जाल से तो बच जाते हैं, परन्तु एक नई विपदा उन्हें घेर लेती है। रात्रि को रेगिस्तान का पीवणा (सर्प) मारवणी को सूंघ जाता है। मारवणी के मृत-प्राय अचेतन शरीर को देखकर स्थिति विषम हो जाती है। विलाप और क्रन्दन से सारा वातावरण भर जाता है। तब शिव-पार्वती प्रकट होकर मारवणी को जीवित करते हैं। (इसी बीच एक योगी-योगिनी ने कहा कि वह मारु को जीवित कर सकते हैं। उन्होंने मारु को पुनः जीवनदान दिया।) दोनों फिर महल को लौटने लगे, तभी डकैतों का सरदार उन्हें मारने आ गया, लेकिन लोक गायकों ने उन्हें बचा लिया। अंततः वे अपने महल लौट सके, अनेक दुखों के बाद एक सुखांत प्रेम कहानी बन सकी।

आदिकाल का नामकरण

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के नामकरण के संबंध में विविध दृष्टिकोण हैं, क्योंकि नामकरण की प्रक्रिया सामान्यतः प्रवृत्ति के आधार पर ही निर्धारित की जाती है। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, राहुल सांकृत्यायन तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं.

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया, उन्होंने निम्नलिखित 12 रचनाओं को आधार मानकर इस काल का नामकरण किया:

साहित्य के इतिहास के प्रथम काल का नामकरण विद्वानों ने इस प्रकार किया है–1. डॉ. ग्रियर्सन–चारणकाल, 2. मिश्रबंधुओं–प्रारंभिककाल, 3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल- वीरगाथा काल, 4. राहुल संकृत्यायन–सिद्ध सामंत युग, 5. महावीर प्रसाद द्विवेदी–बीजवपन काल, 6. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–वीरकाल, 7. हजारी प्रसाद द्विवेदी–आदिकाल, 8. रामकुमार वर्मा–चारण काल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा है। इस नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- ...आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़-सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता-धर्म, नीति,शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है, तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परंपरा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है। इसके संदर्भ में वे तीन कारण बताते हैं–

1. इस काल की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी अर्थात् इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रधानता रही है।

2. अन्य जो ग्रंथ प्राप्त होते हैं, वे जैन धर्म से संबंध रखते हैं, इसलिए नाम मात्र हैं और 3. इस काल के फुटकर दोहे प्राप्त होते हैं, जो साहित्यिक हैं तथा विभिन्न विषयों से संबंधित हैं, किन्तु उसके आधार पर भी इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं होती है। शुक्ल जी वे इस काल की बारह रचनाओं का उल्लेख किया है–1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत-सं. 1355), 2.हम्मीर रासो (शांगधर कृत-सं.1357), 3. कीर्तिलता (विद्यापति-सं. 1460), 4.कीर्तिपताका (विद्यापति-सं.1460), 5. खुमाण रासो (दलपतिविजय-सं.1180), 6.बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह-सं.1212), 7. पृथ्वीराज रासो (चंद बरदाई-सं.1225-1249), 8.जयचंद्र प्रकाश (भट्ट केदार-सं. 1225), 9. जयमयंक जस चंद्रिका (मधुकर कवि-सं.1240), 10. परमाल रासो (जगनिक कवि-सं.1230), 11. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो-सं.1350), 12.विद्यापति की पदावली (विद्यापति-सं.1460)

शुक्ल जी द्वारा किये गये वीरगाथाकाल नामकरण के संबंध में कई विद्वानों ने अपना विरोध व्यक्त किया है। इनमें श्री मोतीलाल मैनारिया, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि मुख्य हैं। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि वीरगाथा काल की महत्वपूर्ण रचना पृथ्वीराज रासो की रचना उस काल में नहीं हुई थी और यह एक अर्ध-प्रामाणिक

रचना है। यही नहीं शुक्ल ने जिन गंथों के आधार पर इस काल का नामकरण किया है, उनमें से कई रचनाओं का वीरता से कोई संबंध नहीं है। बीसलदेव रासो गीति रचना है। जयचंद्र प्रकाश तथा जयमयंक जस चंद्रिका -इन दोनों का वीरता से कोई संबंध नहीं है। ये ग्रंथ केवल सूचना मात्र हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों का भी वीरत्व से कोई संबंध नहीं है। विजयपाल रासो का समय मिश्रबंधुओं ने सं.1355 माना है, अत: इसका भी वीरता से कोई संबंध नहीं है। परमाल रासो पृथ्वीराज रासो की तरह अर्ध प्रामाणिक रचना है तथा इस ग्रंथ का मूल रूप प्राप्य नहीं है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका- इन दोनों ग्रंथों की रचना विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति के गुणगान के लिए लिखे थे। उनका वीररस से कोई संबंध नहीं है। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण की प्रेम-लीला है। इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन आधार पर इस काल का नामकरण वीरगाथा काल किया है, वह योग्य नहीं है।

डॉ. ग्रियर्सन का मत

डॉ. ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल को चारणकाल नाम दिया है, पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं दे पाये हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ 643 ई. से मानी है, किन्तु उस समय की किसी चारण रचना या प्रवृत्ति का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। वस्तुत: इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई.स. तक मिलती ही नहीं हैं। इस लिए डॉ. ग्रियर्सन द्वारा दिया गया नाम योग्य नहीं है।

मिश्रबंधुओं का मत

मिश्रबंधुओं ने ई.स. 643 से 1387 तक के काल को प्रारंभिक काल कहा है। यह एक सामान्य नाम है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। यह नाम भी विद्वानों को स्वीकार्य वहीं है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का मत

डॉ. रामकुमार वर्मा- इन्होंने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को चारणकाल नाम दिया है। इस नामकरण के बारे में उनका कहना है कि इस

काल के सभी कवि चारण थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि सभी कवि राजाओं के दरबार-आश्रय में रहनेवाले, उनके यशोगान करनेवाले थे। उनके द्वारा रचा गया साहित्य चारणी कहलाता है, किन्तु विद्वानों का मानना है कि जिन रचनाओं का उल्लेख वर्मा जी ने किया है उनमें अनेक रचनाएँ संदिग्ध हैं। कुछ तो आधुनिक काल की भी हैं। इस कारण डॉ. वर्मा द्वारा दिया गया चारणकाल नाम विद्वानों को मान्य नहीं है।

राहुल संकृत्यायन का मत

राहुल संकृत्यायन-उन्होंने 8वीं से 13 वीं शताब्दी तक के काल को सिद्ध-सांमत युग की रचनाएँ माना है। उनके मतानुसार उस समय के काव्य में दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता मिलती है- 1.सिद्धों की वाणी- इसके अंतर्गत बौद्ध तथा नाथ-सिद्धों की तथा जैनमुनियों की उपदेशमुलक तथा हठयोग की क्रिया का विस्तार से प्रचार करनेवाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। 2.सामंतों की स्तृति- इसके अंतर्गत चारण कवियों के चरित काव्य (रासो ग्रंथ) आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रय दाता राजा एवं सामंतों की स्तृति के लिए युद्ध, विवाह आदि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रंथों में वीरत्व का नवीन स्वर मुखरित हुआ है। राहुल जी का यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। क्योंकि इस नामकरण से लौकिक रस का उल्लेख करनेवाली किसी विशेष रचना का प्रमाण नहीं मिलता। नाथपंथी तथा हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- उन्होंने हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नाम बीज-बपन काल रखा। उनका यह नाम योग्य नहीं है, क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह काल तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- इन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक काल को आदिकाल नाम दिया है। विद्वान भी इस नाम को अधिक

उपयुक्त मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- वस्तुतः हिंदी का आदि काल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम, मनोभावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक वहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है। आदिकाल नाम ही अधिक योग्य है, क्योंकि साहित्य की दृष्टि से यह काल अपभ्रंश काल का विकास ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल के लक्षण-निरूपण के लिए निम्नलिखित पुस्तकें आधारभूत बतायी हैं–

1. पृथ्वीराज रासो।
2. परमाल रासो।
3. विद्यापति की पदावली।
4. कीर्तिलता।
5. कीर्तिपताका।
6. संदेशरासक (अब्दुल रेहमान)।
7. पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण)।
8. भविषयत्कहा (धनपाल)।
9. परमात्म-प्रकाश (जोइन्दु)।
10. बौद्ध गान और दोहा (संपादक पं.हरप्रसाद शास्त्री)।
11. स्वयंभू छंद और
12. प्राकृत पैंगलम्।

नाम निर्णय

हिंदी साहित्य की पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति, शृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या 'प्राकृताभास हिन्दी' में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति

ने देसी भाषा कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में हिन्दी शब्द का प्रयोग विदेशी मुसलमानों ने किया था। इस शब्द से उनका तात्पर्य 'भारतीय भाषा' का था।के इतिहास के विवादास्पद प्रसंगों में एक हिंदी साहित्य के आदिकाल का भी प्रसंग रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अनेक विद्वान लेखकों ने इस संबंध में अपने-अपने मत प्रस्तुत किए हैं। हिंदी साहित्य के विधिवत् इतिहास लेखन से पूर्व 'भक्तमाल' 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ वैष्णव' की वार्ता' आदि कतिपय कविवृत संग्रह दो लिखे गए जिनमें काल-विभाजन और नामकरण की खोज की ओर कोई दृष्टि नहीं गई। कुछ विद्वान इसे वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रधानता के कारण इसे वीरगाथाकाल कहने के पक्ष में है,लेकिन सिद्धों और नाथों की रचनाएँ इस परिधि में नहीं आ सकती। अत: 'वीरगाथाकाल' न कह कर कुछ ने इसे आदिकाल कहा है, तो किसी ने बीजवपन काल।

1. वीरगाथाकाल: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रारम्भिक युग के साहित्य को दो कोटियों-अपभ्रंश और देशभाषा में बाँटा है। उनके मत में सिद्धों और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं, वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं। अत: शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती और जो साहित्य की कोटि में गिनी जा सकी हैं वे कुछ फुटकर रचनाएँ हैं, जिनसे कोई विशेष प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं होती है। उनके मत में तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में से केवल 'खुसरो की पहेलियाँ', 'विद्यापति पदावली' तथा 'बीसलदेवरासो' को छोड़कर सभी रचनाएँ वीरगाथात्मक हैं। इस युग में राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजा की वीरता का यशोगान तथा उन्हें युद्धों के लिए उकसाने का काम करते थे। इसलिए उन रचनाओं को राजकीय पुस्तकालयों में रखा जाता था। लेकिन बाद में साहित्य संबंधी जो खोज की गई उसके अनुसार शुक्ल ने जिन रचनाओं के आधार पर इस काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा है, उनमें से अधिकतर बाद की रचनाएँ हैं और कुछ सूचनामात्र हैं। शुक्ल ने जिन बारह रचनाओं के आधार पर विवेच्य काल का नामकरण वीरगाथाकाल किया है, वे हैं-य 1.विजयपाल रासो-नल्हसिंह, य 2. हम्मीर रासो-शाडरगधर, य 3. कीर्तिलता-विद्यापति, य 4. कीर्तिपताका-विद्यापति, य 5. खुमानरासो-दलपति विजय, य 6. बीसलदेवरासो-नरपति नाल्ह, य 7.

पृथ्वीराज रासो–चन्दवरदाई, य 8. जयचन्द्र प्रकाश–भट्ट केदार, य 9. जयमंथक–जस–चन्द्रिका–मधुकर, य 9. परमाल रासो–जगनिक, य 10. खुसरो की पहेलियाँ और य 11. विद्यापति की पदावली।

इन रचनाओं में से अधिकतर रचनाएँ अप्रामाणिक एवं सूचना मात्र हैं। खुमानरासो को शुक्ल ने पुराना माना था जबकि मोतीलाल नारिमा ने इसका रचना काल स0 1730 और 1760 के बीच का माना है। इसी प्रकार से 'बीसलदेव रासो' भी सन्देहास्पद है। शुक्ल ने भी इस ग्रंथ को कोई महत्त्व नहीं दिया। 'पृथ्वीराज रासो' भी प्रामाणिक रचना है। जगनिक काव्य प्रचलित गीतों के रूप में है, अतः इसे भी सूचना मात्र ही समझना चाहिए। 'हम्मीररासो' तथा भट्ट के द्वारा कृत 'जयचन्द्र प्रकाश' आदि रचनाएँ भी सूचना मात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इनका नाम 'वीरगाथाकाल' रखा गया, वे या तो सूचना मात्र है या बाद में लिखे हुए हैं। दूसरे, शुक्ल ने धार्मिक–साहित्य को उपदेशप्रधान मानकर साहित्य की कोटि में नहीं रखा, किन्तु जिस धार्मिक साहित्य में प्रेरक शक्ति हो और जो रचनाएँ मानव–मन को आन्दोलित करने में समर्थ हो उनका साहित्यिक महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो धर्म–भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तमकाव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में धार्मिक प्रेरणा या अध्यात्मिक उपदेश को काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझना चाहिए। धार्मिक होने से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानकर चला जाये तो तुलसी का 'मानस' और जायसी का 'पदमावत' भी साहित्य की सीमा में प्रविष्ट नहीं हो सकेंगे। 'भविष्यत कहा' धार्मिक कथा है, लेकिन इस जैसा सुन्दर काव्य उस युग में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। संक्षेप में कहा जायेगा कि सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में से नहीं हटाया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नामकरण किया था। नवीनतम खोजों में जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनकी प्रवृत्तियों को भी नामकरण निर्धारित करते समय ध्यान में रखना होगा। मोतीलाल मेनारिया का मत रहा है कि जिन रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम रखा गया है वे किसी विशेष प्रवृत्ति को स्पष्ट नहीं करते, बल्कि चारण–भाट आदि वर्ग विशेष की मनोवृत्ति को ही स्पष्ट करते

हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर किसी काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जाए तो राजस्थान में आज भी वीरगाथाकाल ही है, क्योंकि ये लोग आज भी उत्साह से काम कर रहे हैं।

2. अपभ्रंश कालः चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' की संज्ञा दी है। आदिकाल के साहित्य में अपभ्रंश भाषा की प्रधानता स्वीकारते हुए उन्होंने इस काल को 'अपभ्रंश काल' कहना अधिक समीचीन समझा है। भाषा के आधार पर साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। साहित्य के किसी भी काल का नामकरण उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों अथवा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उचित समझा जाता है। 'अपभ्रंश काल' यह नाम भ्रामक भी सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें श्रोता या पाठक का ध्यान हिंदी साहित्य की ओर न जाकर अपभ्रंश साहित्य की ओर आकृष्ट होता है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी अपभ्रंश और हिंदी दो अलग-अलग भाषाएं है। इसलिए पुरानी हिंदी को अपभ्रंश कहना भी उचित नहीं है।

3. संधिकाल या चारण कालः डा. रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के इस प्रारंभिक काल को संधिकाल या 'चारणकाल' इन दो नामों से अभिहित किया है। उनकी सम्मति में हिंदी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है, किन्तु अपभ्रंश से एक पृथक भाषा के रूप में विकसित होने से पूर्व हिंदी भाषा एक ऐसी स्थिति में भी रही होगी, जिसमें वह अपभ्रंश के प्रभावों से सर्वथा मुक्त न हो सकी होगी। अपभ्रंश भाषा के अंत और हिंदी भाषा के आरम्भ की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डा. वर्मा ने 'संधिकाल' की कल्पना की है। हिंदी साहित्य के जिस काल को आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' कहा है, वहीं पर डा. वर्मा उसे 'चारण काल' कहना उपयुक्त समझते हैं।

4. सिद्ध सामन्त कालः विषय वस्तु की दृष्टि से महापण्डित राहलु सास्कृत्यायन ने इस यगु के लिए 'सिद्ध सामन्त यगु ' नाम प्रेषित किया है। प्रस्तुत नामकरण बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। इस काल के साहित्य में सिद्धों द्वारा लिखा गया धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। सामन्तकाल में 'सामन्त' शब्द से उस समय की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा स्रोत का भी पता चलता है। लेकिन इस 'सिद्ध सामन्त युग' में सभी

धार्मिक और साम्प्रदायिक तथा लौकिक रचनाएँ नहीं आती। राहुल सांस्कृत्यायन अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को एक ही मानते हैं, साथ ही इस युग की रचनाओं को मराठी, उडिया, बंगला आदि भाषाओं की सम्मिलित निधि स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सिद्ध-सामंत-युग' नाम भी साहित्य के लिए उपयुक्त नाम नहीं है।

3

भक्तिकाल

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल 1375 वि0 से 1700 वि0 तक जाना जाता है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भक्तिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। यह समय भक्तिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। भक्तिकाल का आरंभ चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। हिन्दी साहित्य की उत्तम रचनाएं और समस्त श्रेष्ठ कवि इस युग में हुए हैं। दक्षिण में आलवार बंधु नाम से प्रसिद्ध भक्त हुए हैं। इनमें से अनेक नीची जातियों से थे। वे पढ़े-लिखे भी नहीं थे, लेकिन बहुत ही अनुभवी थे। आलवारों के बाद दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली, जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे। रामानुजाचार्य की परंपरा में आगे चलकर रामानंद हुए। रामानंद का व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद खत्म किया। सभी जातियों के योग्य व्यक्तियों को उन्होंने अपना शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया था-

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया। रामानंद और उनके शिष्यों ने दक्षिण की भक्तिगंगा को उत्तर में प्रवाहित किया। पूरे उत्तर-भारत में भक्तिधारा बहने लगी। उस समय पूरे भारत में योग्य संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को स्थापित किया और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना को प्रचारित किया। वल्लभाचार्य के द्वारा जिस

लीला-गान का प्रसार हुआ, उसने पूरे देश को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवियों ने वल्लभाचार्य के उपदेशों को मधुर कविता में बना जन-जन में पहुँचाया। वल्लभाचार्य के बाद माध्व और निंबार्क संप्रदायों का भी जन-मानस पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। साधना-क्षेत्र के दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला, जिसमें संत कबीरदास प्रमुख है। मुस्लिम कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत अलग नहीं है। कुछ भावुक मुस्लिम कवियों ने सूफीवाद में डूबी हुई अति उत्तम रचनाएं लिखी।

भक्ति काल क्या है में भक्ति काल अपना एक अहम और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई से संवत् 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य(साहित्यिक दो प्रकार के हैं- धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है, जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली, जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया:

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्तिगंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुंचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ, उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिध्द कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला, जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गई।

संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं–

1. सगुण भक्ति।
2. रामाश्रयी शाखा।
3. कृष्णाश्रयी शाखा।
4. निर्गुण भक्ति
5. ज्ञानाश्रयी शाखा
6. प्रेमाश्रयी शाखा

भक्ति काल

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल1375 वि0 से 1700 वि0 तक माना जाता है। यह युग भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। समस्त हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इस युग में प्राप्त होती हैं।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था, वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया: जाति-पांतिपूछेनहिंकोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।

<nowiki>blds उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला, जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत

कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गईं। संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं: ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा,,, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा, प्रथम दोनों धाराएं निर्गुण मत के अंतर्गत आती हैं, शेष दोनों सगुण मत के अंतर्गत आती हैं।

संत कवि

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचयकबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी

परिचय

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्तिआंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा, जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचारप्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे, जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों - कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत

कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था, जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया, जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं, पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है, पर निर्गुणोपासक कबीर भी अने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधाना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं, जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने

विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं, जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान् हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठ लनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी, जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए, जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान के मधुर रूप का उद्घाटन किया, पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष

बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ, जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्व भगवान के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है, जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वयभावना है, जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान् राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करनेवाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरूप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्व उसक धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कृष्णाश्रयी शाखा

इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं। वात्सल्य एवंशृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्य ही लिखा

है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है, इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्रायः सब कवि गायक थे, इसलिए कविता और संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी, उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं- श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है- भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतो से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्ण किया है। सूरदास इसमें प्रमुख है।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के हृदय की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।
3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।

4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।
5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है- कृष्ण-काव्य की संगीतात्मक्ता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजे जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।
12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है- कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते

हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के सम। न उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूपः रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं। भक्ति का स्वरूप रू इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है: सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है: भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है। लोक-मंगल की भावना: रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत है।

समन्वय भावना– तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ– रामकाव्य में काव्य की प्राय: सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है। रस: रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा।

भाषा– रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है।

छंद– रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार– रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी मार्गी

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और राम की उपासना करते थे। वे गुरु को बहुत सम्मान देते थे तथा जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढ़ियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे, परंतु अनुभव की दृष्टि से समृध्द थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं - नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है, जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं।

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति उपासना की जा सकती है, किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है, उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है ? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है ? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है ? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है, जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है, जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है ? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है, जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा है।इस सम्बन्ध में जब

हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है, क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं, ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्रायः प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं - मंझन, कुतुबन और उसमान।

भक्ति काव्य का सामाजिक एवं सांस्कृतिक योगदान

इक्कीसवीं शताब्दी के लगभग डेढ़-दो दशक बाद इस अकाल बेला में भारत ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में धर्मोन्माद और आतंक का जो माहौल दिखाई दे रहा है, उसे नजरअंदाज करना मुश्किल है। कहने की जरूरत नहीं कि इस मानव-विरोधी लहर की बुनियाद विश्व बाजारवाद एवं भूमंडलीकरण की प्रक्रिया है। कई विचारकों ने हमारे समय की धार्मिक मूलगामिता को औद्योगिक पूँजी के बजाय वित्तीय पूँजी के विश्वव्यापी सर्वग्रासी प्रसार से उत्पन्न बाजारवादी मूलगामिता (मार्केट फंडामेंटलइज्म) का पुनरुत्पाद बताया है।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने लिखा है कि राजनीति अल्पकालिक धर्म है और धर्म दीर्घकालीन राजनीति। आज की राजनीति भविष्य का धर्म है और आज का धर्म अतीत की राजनीति। सच तो यह है कि संसार का कोई भी धर्म तात्विक दृष्टि से किसी दैवी सिद्धांत के बजाय एक ऐसी आध्यात्मिक चेतना है, जो

लगातार परिवर्तित होते रहने वाले अनुभव से निष्पन्न होती है। इसलिए यह कहना अयुक्तियुक्त न होगा कि धार्मिक प्रश्न मूलत: सामाजिक प्रश्न के अलावा कुछ नहीं होते और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव से कालांतर में धर्म का स्वरुप भी स्वभावत: बदलता है। जिस प्रकार इतिहास के प्रत्येक कालखंड में उदीयमान एवं पतनशील सामाजिक शक्तियों के बीच प्राय: रस्साकशी की स्थिति हुआ करती है, जिसके फलाफल पर ही सामाजिक विकास की प्रक्रिया का भविष्य टिका होता है, उसी प्रकार संसार के विभिन्न धर्मों के भीतर भी उदारवाद एवं कट्टरवाद के बीच तनाव देखा जा सकता है। गौरतलब है कि इस पंथगत रस्साकशी के कुरुक्षेत्र में दोनों ही पंथों के अगुआ अपने-अपने पक्ष को धर्मयुद्ध घोषित करने से कदापि नहीं चूकते और ऐसे तथाकथित धर्मयुद्ध में कट्टरपंथी पतनशील ताकतों के मुकाबले उदीयमान शक्तियों की विजय के लिए यह बहुत जरूरी होता है कि उसे समर्थन देने वाली सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक ताकतें उस युग-विशेष में विकास के एक निश्चित सोपान पर पहुँच चुकी हों।

भक्ति आंदोलन के आविर्भाव को एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध ने ठीक ही इसे मूलत: तद्युगीन आम जनता के दु:खों और कष्टों से निष्पन्न माना है। उन्होंने लिखा है कि - 'भक्ति-काल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। असल बात यह है कि मुसलमान संत-मत भी उसी तरह कट्टरपंथियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे, किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दु:खों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुखद स्थिति छिपी हुई थी।'

मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन की निर्गुण एवं सगुण धारा के बीच अधिरचना के स्तर पर दिखाई देने वाले अंतर्विरोधों की पृष्ठभूमि में मौजूद तद्युगीन आधारगत अंतर्विरोधों की गहरी छानबीन के बाद जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसे नजरअंदाज कर पाना असंभव है - 'जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, ...उसी भक्ति आंदोलन को उच्चवर्गियों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया।' उनके अनुसार इसका 'मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रेचना को समाप्त करने वाली पूँजीवादी क्रांतिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं।' निर्गुण-शाखा एवं

कृष्णभक्ति-शाखा के बरअक्स रामभक्ति-शाखा को रखकर उन्होंने सवाल खड़ा किया है कि - 'क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति-शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम - जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे। किंतु रामभक्ति-शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्वपूर्ण रुप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जबकि यह एक स्वत: सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अंतर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।'

कहना न होगा कि भक्तिकाव्य के किसी अध्येता के लिए उपरोक्त सवाल से मुँह चुराना संभव नहीं है, पर इस संदर्भ में मुक्तिबोध की तर्क-पद्धति से शत-प्रतिशत सहमति से एक महत्वपूर्ण सवाल का जवाब पाने की बजाय समस्या के सरलीकरण के खतरे से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुत: मुक्तिबोध द्वारा खड़ा किया गया प्रश्न एक अत्यंत महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय प्रश्न है, जिसका संतोषजनक उत्तर प्राप्त करने हेतु साहित्य की दुनिया से थोड़ा बाहर जाकर मध्ययुगीन भारतीय समाज की संरचना का समाजशास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण अपरिहार्य है। दीगर बात यह है कि निर्गुण और सगुण के बीच जैसी द्विभाजकता हिंदी के भक्तिकाव्य में है, वह अन्य भारतीय भाषाओं में रचित भक्तिकाव्य के प्रसंग में बहुत हद तक लागू नहीं होती।

यह ठीक है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के बगैर भक्तिकाव्य पर कोई सार्थक बातचीत आज असंभव है, किंतु, इस महान काव्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाजशास्त्रीय व्याख्या के अपने खतरे हैं। जिस प्रकार मनुष्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या नाभिनालबद्ध होनी चाहिए, उसी प्रकार भक्तिकाव्य का विवेचन-विश्लेषण भी दोनों पद्धतियों की परस्पर संबद्धता के अभाव में यदि एक ओर यांत्रिक समाजशास्त्रीयता का शिकार हो सकता है तो दूसरी ओर आत्ममुग्धता की हद तक अध्यात्मवाद के रंग में रँग जाने को अभिशप्त। इन अतिवादी, अतिरेकी एवं एकांगी पद्धतियों की अपेक्षा भक्तिकाव्य के संतुलित मूल्यांकन के लिए एक ऐसी समावेशी पद्धति काव्य है, जिसे मोटे तौर पर 'समाजशास्त्रीय सौंदर्यशास्त्र' या 'सौंदर्यशास्त्रीय समाजशास्त्र' कहा जा सकता है। याद रहे कि जेने उल्फ नामक विदुषी की पुस्तक 'सौंदर्यशास्त्र और कला का समाजशास्त्र' (1983) में इसी अभिगम को अपनाने पर बल दिया गया है। इसके बगैर यह समझ पाना असंभव है कि भक्तिकाव्य

ने सौंदर्यशास्त्र को किस प्रकार नया आयाम दिया। इसमें कलात्मकता और ऐतिहासिकता का जैसा रोचक और रसात्मक संवाद है, साहित्य, संगीत और कला की जो त्रिवेणी है, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-सहयोग के जो द्वंद्वात्मक दृश्य दिखाई पड़ते हैं तथा सर्वप्रमुख लोकप्रिय जातीय संस्कृति की जो छवियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनकी मानवीय अर्थवत्ता एवं सार्थकता क्या है। भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के क्रम में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भक्त कवि वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध केवल वहीं खड़े नहीं होते, जहाँ वे उसकी खुलकर निंदा करते हैं। गहराई से विचार करने पर भक्तिकाव्य में जगह-जगह व्यक्त भगवान के स्पर्श की कामना के भी सामाजिक निहितार्थ ढूँढे जा सकते हैं -

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं।।
वरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं।।

कृष्णभक्ति-काव्य में 'रासलीला' के प्रसंग में ऐसे अनेकानेक चित्र मिलते हैं, जिनमें नृत्य के दौरान गोपियाँ कृष्ण के और कृष्ण गोपियों के आलिंगन में बद्ध दिखाए गए है -

अरुझी कुंडल लट, बेसरि सौं पीत पट, बनमाल
बीच आनि उरझे हैं दोउ जन।
प्रननि सौं प्रान, नैन नननि अंटकि रहे, चटकीली
छबि देखि लपटात स्याम घन
होड़ा-होड़ी नृत्य करें, रीझि-रीझि अंक भरैं,
ता-तार 'थेई-थेई' उछटत हैं हरखि मन।
सूरदास प्रभु प्यारी, मण्डली जुवति भारी, नारि कौ
आँचल लै-लै पोंछत हैं श्रमकन।

सूरदास की कविता में आए उल्लास के इस अपूर्व चित्र पर रीझकर डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है - ष्कृष्ण के कुंडलों में राधिका की लट, राधा की बेसर में कृष्ण का पीत पट उलझे (उलझा) हैं (हैं)। नृत्य घनीभूत है न! बनमाल में दोनों ही उलझ गए है। होड़ करके नाचते हैं। सामंती निषेधों की बेड़ियाँ पैरों में नहीं हैं, इसलिए प्राक् सामंती समाज की स्वछंदता के ताल पर नाच रहे हैं। प्राणों से प्राण, नैनों से नैनों का मिलना... रीझ-रीझ कर अंक भरनाय ता ता थई-थई उछटत पर जब मृदंग पर थाप पड़े, तब नाद की नसेनी पर मन सुन्न

महल पर पहुँच जाए। मंडली-जुवती हैं, अनेक नाचने वाले हैं। सामूहिक उल्लास है। फिर समग्र क्रिया की पूर्ति के फलस्वरूप आँचल के श्रमकन पोंछना रस निष्पत्ति की पराकाष्ठा है।'

जिस समाज में आबादी का एक बड़ा हिस्सा छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथा का शिकार हो, उसमें संत-भक्त कवियों की रचनाओं में भगवान को स्पर्श करने की कामना की अभिव्यक्ति वाले चित्रों को केवल सौंदर्यशास्त्र की आँख से देखना काफी नहीं है।

उल्लेखनीय है कि जिस वेदांत दर्शन को विवेकानंद ने 'मानव जाति द्वारा अब तक हासिल उच्चतम ज्ञान का संग्रह' तथा 'शास्त्रों का शास्त्र' घोषित किया है, वह बहुत हद तक भक्तिकाव्य की सर्वप्रमुख विचारधारा (नोर्मेटिव आइडियोलॉजी) है। विवेकानंद के अनुसार - 'एक आदमी दूसरे आदमी से ऊँचा पैदा हुआ है, इस विचार का वेदांत में कोई स्थान नहीं है।' इसलिए भक्त कवियों द्वारा मनुष्य-मनुष्य के बीच बराबरी की भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति स्वाभाविक है।

निर्मला जैन ने भक्तिकाव्य की सौंदर्य-दृष्टि के निर्माण में दार्शनिक विचारधारा की केंद्रीय भूमिका को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'इस काव्य की मूलवर्ती दृष्टि ठेठ भौतिकवादी भले ही न हो, वस्तुवादी अवश्य है। वस्तु और आत्म, पदार्थ और चेतना के आपसी संबंध के बुनियादी सवाल को सुलझाने की यह केंद्रीय दृष्टि ही जीवन-मूल्यों और तदनुसार सौंदर्य-मूल्यों के विकास की दिशा और प्रकृति का निर्धारण करती है, जो दृष्टि वस्तुजगत को मिथ्या, गौण या नगण्य घोषित करती है, वह कहीं न कहीं समाज में व्याप्त अन्याय और शोषण की मददगार होती है। वह समाज के सुविधा-संपन्न वर्ग की मानसिकता और हितों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके विपरीत वस्तुजगत में आस्था रखने के कारण भौतिकवादी दृष्टि का ध्यान मनुष्य और समाज पर केंद्रित रहता है। परिणामत: उसमें सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की गुंजाइश बराबर बनी रहती है। भक्तिकाव्य का आराध्य तत्त्वत: अवतार होते हुए भी जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से जुड़ा था। जगत को यथार्थ और नित्य मानने वाले ये कवि इंसान के पक्षधर थे।'

भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की समस्याओं पर विचार करते हुए यह बात भी काबिलेगौर है कि भक्त कवियों ने उपनिषद-काल से चली आ रही ब्रह्म की अवधारणा (कंसेप्शन) को संवेदना के स्तर पर तत्त्वांतरित करके

उसे (परसेप्शन) में तब्दील किया। इस क्रम में उन्होंने 'ब्रह्म' की अमूर्त अवधारणा को पहले इंद्रियगोचर रूप प्रदान किया और तब उसे राग का विषय बनाया। गौरतलब है कि भक्त कवियों के इंद्रियबोध की अनेकस्तरीयता के चलते उनकी अभिव्यक्ति-पद्धति में भी स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक महत्वपूर्ण भक्त कवि की एक निजी व विशिष्ट अभिव्यक्ति की संरचना है, जिसके मूल में उसकी एक विशिष्ट एवं वैयक्तिक अनुभूति की संरचना निहित है। स्पष्ट ही मनुष्य की निजी एवं वैयक्तिक इंद्रियबोधीय विशिष्टता के चलते बाह्यबोध को लेकर उसकी प्रतिक्रिया को जो एक भिन्न व विशिष्ट आयाम प्राप्त होता है, वह मोटे तौर पर दो प्रकार का हो सकता है -आवेगात्मक और संवेदनात्मक। इनमें आवेगात्मकता का जहाँ तात्कालिक महत्त्व होता है, वहीं संवेदनशीलता का दीर्घकालिक और इसका संबंध संयम, सुरुचि एवं संस्कृति से होता है। सच तो यह है कि जो कवि जितना ज्यादा संवेदनशील होगा, वह उतना ही बड़ा सौंदर्य-पारखी भी। भक्तकवियों की संवेदनशीलता की व्यापकता और गहराई की द्वंद्वात्मकता को रेखांकित करते हुए निर्मला जैन ने सही लिखा है कि - 'जो संवेदनशीलता समाज में व्याप्त अन्याय से चोट खाकर व्यंग और फटकार की तीव्रता में, अन्याय का विरोध करने में प्रकट होती है, वही 'प्रेम की पीर' से उत्पन्न व्याकुलता में।'

'पदमावत' के रचयिता मालिक मुहम्मद जायसी का वैशिष्टय कवि की आवेगशीलता के बजाए संवेदनशीलता में निहित है, जिसके परिणामस्वरुप उसकी अभिव्यक्ति पाठक के भीतर अपेक्षाकृत स्थिर, व्यापक एवं गहरी संवेदनात्मक अनुगूँज उत्पन्न कर सकने में सक्षम है। यह अनुगूँज 'पदमावत' में जगह-जगह पर जायसी द्वारा प्रयुक्त अनूठी शब्दावली व मुहावरों में सुनी जा सकती है, जिसके माध्यम से वहाँ पूरी कायनात को 'शब्द' में उतार दिया गया है। प्रसंगवश 'पदमावत' में सिंहलगढ़-वर्णन के प्रसंग में आया एक दोहा दृव्य है, जो अभिव्यक्ति की सादगी के बावजूद एक अर्थवान बिंब-सृष्टि का अन्यतम उदाहरण है -

मुहमद जीवन जल भरन रहेंट घरी की रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥

गौरतलब है कि यहाँ 'रहँट' के चलने की वजह से पानी भरने और खाली होने का जो बिंब बनता है, वह प्रकारांतर से जिंदगी और मौत की निरंतर चलने वाली चाक्रिक प्रक्रिया को भी व्यंजित केरता है। इस अतिरिक्त व्यंजना की कुंजी

छोटे-से क्रिया-प्रयोग 'गा' में निहित है, जो ठेठ अवधी का क्रिया-पद है और ऊपर कथित चाक्रिक प्रक्रिया में हर्ष या विषाद जैसे भाव के बजाय चलने की प्रक्रिया पर बल देता है। इसी प्रकार सिंहलद्वीप के पक्षियों का वर्णन करने के दरम्यान जायसी ने लिखा है -

जाँवत पंखि कहे सब बैठे भरि अँबराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउँ।

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में निहित रचनात्मक तनाव पर प्रकाश डालते हुए रामस्वरुप चतुर्वेदी लिखते हैं कि इस दोहे के अभाव में वृक्षों पर बैठे दर्जनों पक्षियों की एक सूची बन जाती, पर उस अमराई का कोई काव्यात्मक बिंब न बन पाता। अपनी-अपनी शाखा पर बैठकर अपनी-अपनी भाषा में प्रभु का नाम-स्मरण करते हुए पक्षियों का यह रूप-वर्णन एक सीमा तक प्रस्तुतपरक होते हुए भी बिंब की छवि प्राप्त कर लेता है। इस बिंब-प्रक्रिया में अवधि के एक बहुप्रचलित शब्द - 'दइअ' के प्रयोग से उत्पन्न वैशिष्टय की ओर इंगित करते हुए डॉ. चतुर्वेदी कहते हैं कि यदि 'दइअ' का स्मरण करते मनुष्य चित्रित होते तो इस शब्द में अर्थ के इतने विस्तार की संभावना न होती। परंतु छोटे, विनम्र पर आकर्षक पक्षियों के संदर्भ में 'दइअ कर नाउँ' प्रभु की भाँति ही विराट हो जाता है। 'पंखि' की निरीहता और 'दइअ' की विराटता के रचनात्मक तनाव से यहाँ अर्थ का संश्लिष्ट विकास संभव होता है। दीगर बात यह है कि 'ईश्वर' और 'अल्लाह' से अलग अवधी का बहुप्रचलित 'दइअ' प्रयोग इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि वह हिंदू, मुसलमान या किसी भी धार्मिक परंपरा से अलग प्रभु की उपस्थिति का सीधा साक्षात्कार करा पाता है। 'ईश्वर' या 'अल्लाह' जैसे शब्दों के साथ अनेक धार्मिक-सांप्रदायिक संस्कार जुड़े हुए हैं। 'दइअ' ग्रामीण जन-जीवन में धर्म से उतना नहीं, जितना विनम्र आस्था से जुड़ा हुए है। इस तरह जायसी का यह शब्द-प्रयोग एक पंक्ति या एक दोहे को नहीं, वरन एक पूरे अंश को वर्णन के धरातल से उठाकर काव्य-अनुभव बना देता है।

'पदमावत' ऐसे ही अनेकानेक अनोखे काव्य-अनुभवों का जीवंत समुच्चय होने के कारण अन्य भक्त कवियों की कृतियों से न केवल भिन्न है, बल्कि विशिष्ट भी। ऐसे भी किसी रचना की श्रेष्ठता का निर्धारण केवल इस आधार पर करना औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता कि वह पूर्ववर्ती या परवर्ती रचनाओं की तरह है या नहीं, जो श्रेष्ठ मानी जाती है। बर्तोल्त ब्रेष्ट के शब्दों में कहें तो हर दिशा में किसी कलाकृति में व्यक्त की गई जिंदगी का व्यक्त की जा रही

जिंदगी से मिलान करना चाहिए, बजाय इसके कि उसकी दूसरी वर्णित जिंदगी से तुलना की जाए। इस तरह देखें तो जायसी मध्ययुगीन सामंती समाज में व्याप्त केवल संकीर्णता ही नहीं, बल्कि उसके विरुद्ध उत्पन्न अत्यधिक उदारता के खतरे को लेकर भी सचेत दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए 'पदमावत' में इतिहास-चेतना के साथ-साथ अंतस और बाह्य की द्वंद्वात्मकता के अलावा जन-जीवन की मार्मिकता के ऐसे अनेकानेक अछूते पहलू उजागर हुए हैं, जिनके अभाव में बड़े से बड़े कलाकार की रचना अपने दायित्व व लक्ष्य से च्युत हो जाती है। आहत भावनाओं, पूर्वाग्रहों एवं अस्मितावाद की राजनीति की साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में कैसी परिणतियाँ हो सकती हैं, इसका उदाहरण यदि एक ओर दलित विमर्श के नाम डॉ. धर्मवीर की कबीर संबंधी पुस्तकें हैं, तो दूसरी ओर डॉ. रामविलास शर्मा सरीखे प्रगतिशील आलोचक का तुलसीदास विषयक मंतव्य। सच तो यह है कि साहित्य-क्षेत्र में युधिष्ठिरों की फुसफुसाहटों और शिखंडियों की ललकारों के बीच जन-जीवन के द्वंद्व को समझ-बूझकर द्वंद्वमुक्त सोच-विचार रखने वाले लोग हर जमाने में अल्पसंख्यक रहे हैं और 'पदमावत' का रचयिता भी उन्हीं में से एक है। इसमें जायसी अपने पात्रों को कुछ इस तरह छूते हैं कि मनुष्य को अतिमानव बनाने वाली इतिहास की प्रवृत्ति तथा कई बार सामंती रसोपलब्धि के सूफीकरण के प्रयास के बावजूद वहाँ इतिहास की विडंबना के चित्रण के दौरान कवि और पाठक के बीच काल का व्यवधान नहीं रह जाता। 'पदमावत' में ऐसे कई सामान्य चरित्र भी हैं, जिनकी आम भारतीय तटस्थता और दार्शनिकता के बरअक्स ही तद्युगीन इतिहास की विडंबना को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वस्तुतः जायसी का लक्ष्य मध्ययुगीन सामंती समाज के उन तमाम अंतर्विरोधों का संवेदनात्मक रेखांकन है, जिसकी क्रूरता का ज्वालामुखी फूटकर अंततः सबको तहस-नहस कर देता है -

जौंहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम।
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।

कहना न होगा कि 'साहित्य का समाजशास्त्र' के क्षेत्र में अपने अप्रतिम योगदान के लिए विश्वप्रसिद्ध विचारक लूसिए गोल्डमान की शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए विजयदेव नारायण साही ने 'जायसी' पुस्तक में 'पदमावत' में निहित 'विषाद-दृष्टि'(ट्रैजिक विजन) की सामाजिकता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भली-भाँति उजागर किया है। अपने विवेचन-विश्लेषण के क्रम में साही ने इसी प्रसंग पर रचित अमीर खुसरो का एक फारसी छंद भी उद्धृत किया

है, जिसमें अलाउद्दीन खिलजी पर व्यंग्य करते हुए खुसरो कहते हैं कि – 'तुमने अपने घमंड की तलवार से हृदय के देश को वीराना बना दिया और अब तू इस पर सुलतान बनकर बैठा है।'

'पदमावत' में जगह-जगह सूफ़ीमत की शब्दावली, मुहावरे एवं प्रतीक-विधान के इस्तेमाल तथा सामंती रसोपलब्धि के सूफ़ीकरण के बावजूद जायसी की काव्यानुभूति की संस्कृति एकायामी नहीं है। वस्तुतः यह कृति उस जमाने में प्रचलित तमाम तरह की धार्मिक प्रणालियों व अधिरचनाओं का छोटा-मोटा विश्वकोश प्रतीत होती है, जिसकी रचना के मूल में कवि की सर्वसमावेशी प्रकृति है। चूँकि जायसी के यहाँ अपवर्जन के लिए कोई जगह नहीं है, इसलिए उनसे वैसी धर्मनिरेपक्षता की माँग करना एक प्रकार से ज्यादती होगी, जो राष्ट्रीयता एवं संस्कृति में धर्म के एक संघटक अवयव के रुप में समावेश किए जाने का विरोध करती है। यह सही है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'सर्वधर्म समभाव' कदापि नहीं होता और इसकी अवधारणा शुरु से यह रही है कि प्रत्येक नागरिक के धार्मिक विश्वास (या नास्तिकता) की स्वाधीनता बरकरार रखने के बावजूद राजकीय एवं प्रशासनिक क्रियाकलापों में धार्मिक मान्यताओं के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए। किंतु, स्मरणीय है कि धर्मनिरेपक्षता विषयक इस मंतव्य का स्वरुप सिद्धांततः आधुनिकता व आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ निर्मित हुआ है और ऐसी धारणाओं को 'सर्वधर्म समभाव' रूपी बीज से अंकुरित परवर्ती तर्कसम्मत चिंतन कहा जा सकता है।

जाहिर है कि मध्यकाल में ऐसे वैज्ञानिक एवं तार्किक भावबोध और चिंतन सरणि के अभ्युदय, विकास तथा प्रसार के लिए कोई अवकाश नहीं था। इसलिए आज चेतना व चिंतन के विकसित धरातल पर खड़े होकर भक्तिकालीन कलाकृतियों में निहित उदार मानववाद को कमतर समझना एक श्रेष्ठ रचना के साथ गैर-रचनात्मक तरीके से पेश आना ही कहा जाएगा और यह नजरिया न केवल कला-विरोधी होगा, बल्कि अनैतिहासिक भी। वस्तुतः 'पदमावत' के पाठ को भक्तिकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में रखकर ही जायसी के रचनात्मक अभिप्राय एवं प्रभाव की पड़ताल करना तथा उनकी रचनात्मक उपलब्धियों एवं संभावनाओं का जायजा लेना संभव है। कहने की जरुरत नहीं कि 'पदमावत' धार्मिक संवेदना एवं धर्मनिरेपक्ष संवेदना के घनिष्ठ और जटिल संबंध की समझ पैदा करने वाली महान कालजयी कृति है।

अतीत एवं परंपरा के प्रति अपने नजरिए का खुलासा करते हुए राल्फ फाक्स ने लिखा है कि अतीत हमारे लिए कोई शौकिया वस्तु नहीं है, हम उसका उपयोग वर्तमान में बेहतर तरीके से जिंदा रहने के लिए करना चाहते हैं। यह बात जिस हद तक अतीत पर लागू होती है, उसी हद तक अतीत की रचनाओं पर भी, किंतु इसके लिए अतीत में रचित कृतियों को उनकी गतिशीलता और परिवर्तनों के रुप में, उनके पारस्परिक संबंधों और घात-प्रतिघातों के रुप में देखकर गहरी छानबीन अपरिहार्य है। यह देखे बगैर कि साहित्यिक कृतियाँ किन ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संकटों से पैदा हुए संवेदनात्मक आलोड़न के तहत रची जाती हैं और दूसरी कृतियों के साथ उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया कैसी होती है, यदि कोई अध्ययन किया जाएगा तो स्वभावत: उससे अनेकानेक भ्रमोत्पादक निष्कर्ष निकेलेंगे और समझ पाना असंभव होगा कि कैसे भक्त कवि तद्युगीन दुनियावी सच्चाइयों से जुझती अपनी लहूलुहान आत्मा की पीड़ा को धार्मिक चेतना जैसा 'एब्सोल्यूट' रुप प्रदान करते हैं।

रघुवीर सहाय का कहना है कि - 'कविता जिन चीजों को बचा सकती है, उनको पहचानने के लिए आप मुक्त हैं, पर अंतत: वे वहीं होंगी, जो कि आदमी को कहीं न कहीं आजाद करती हैं।' इस दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट होता है कि जायसी की कविता भले ही तद्युगीन समाज को बनाने या बिगाड़ने वाले सत्ता-संघर्ष में कोई सार्थक हस्तक्षेप न कर पाई हो, पर वह अपने समय का एक ऐसा संवेदनात्मक साक्ष्य जरुर है, जिससे गुजरना आज भी हमें किसी सीमा तक अवश्य मुक्त करता है। याद रहे कि आज के पाठक की यह मुक्ति किसी भी अर्थ में अपने समय की वास्तविकता की विस्मृति का जरिया नहीं हो सकती। 'हिंसा की सभ्यता' एवं 'क्रूरता की संस्कृति' के इस उपभोक्तावादी युग में 'पदमावत' से गुजरना खुद को लगभग याद दिलाने जैसा है कि हमारे अपने समय-समाज की वास्तविकता क्या है? वस्तुत: जायसी अपने कविता में जगह-जगह पर शब्दों के चारों ओर वह 'स्पेस' रचते दिखाई पड़ते हैं, जिनमें तथाकथित आधुनिक जीवन की विसंगतियों व विडंबनाओं के चलते अवसन्न पाठक शिरकत करके एक हद तक संतृप्त महसूस कर सकता है। यह इसलिए संभव है, क्योंकि सूफी मतवाद से संबंधित दार्शनिक आडंबर व दिखावे के बजाय कवि का मकसद तद्युगीन औसत भारतीय जीवन में मौजूद बुनियादी रागात्मकता का उद्घाटन रहा है। स्पष्ट ही जायसी के 'प्रेम की पीर' का स्वरुप नारद-भक्ति-सूत्र के 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरुपम। मूकास्वादनवत।' से न केवल

गुणात्मक रुप में भिन्न है, बल्कि कहीं ज्यादा मानवीय भी। 'ठेठ अवधी का ठाठ' को मध्यकाल में काव्य-सृजन के शिखर पर पहुँचाने में सफल महाकवि जायसी को विजयदेव नारायण साही ने ठीक ही 'हिन्दी का पहला विधिवत कवि' और उनके 'पदमावत' को सुविख्यात पश्चिमी भारतविद थॉमस डी. ब्रूइन्न ने 'रूबी इन द डस्ट' कहा है स्पष्ट ही 'पदमावत' जैसी किसी कलाकृति को आधार बनाकर निर्मित फिल्म अपने तमाम तामझाम के बावजूद उसकी कला-चेतना की ऊँचाई का स्पर्श नहीं कर सकती, क्योंकि कवि अपने पाठकों की कल्पनाशीलता को जहाँ उद्वेलित करता है, वहीं फिल्म उसे मूर्त रूप प्रदान करके सीमित कर देती है। नतीजतन, कालजयी रचनाएँ इतिहास की प्रक्रिया से गुजरने के बावजूद इतिहास का अतिक्रमण करती हुई अक्सर फिल्म के मुकाबले में बाजी मार ले जाती हैं।14वीं सदी के मध्य से 17वीं सदी के मध्य तक अनवरत प्रवाहित भक्ति धारा भारत वर्ष में समय के जिस बिन्दु पर आंदोलनात्मक तेवर प्राप्त करती है। वह भारतीय समाज के लिए जड़ता, ठहराव किन्तु विस्फोट का काल रहा है। जैसा कि ग्रियर्सन की मान्यता है कि भक्ति आंदोलन बिजली को कौंध के समान अस्तित्त्व में आता है वस्तुतः ऐसा नहीं है।

उसकी जड़े सदियों पूर्व भारतीय संस्कारों, रीतियों, नीतियों एवं मूल्यों में व्याप्त हैं। वैदिक काल से लेकर 14वीं सदी तक भारतीय मनीषा ने सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र न जाने कितने उतार चढ़ाव का सामना किया एवं समय-समय पर समाज की नियामक शक्तियाँ परिवर्तित होती रही, जिनका सुनिश्चित परिणाम धर्म का आध्यात्मिक आंदोलन के रूप में प्रतिष्ठित होना था।

आचार्यों ने भक्ति काव्य को एक विराट आंदोलन में विवेचित-विश्लेषित करते हुए यह पाया है कि प्रथम बार भारतीय समाज का आधार भूमि इतनी विशुद्ध हो सकी है कि जाति सम्प्रदाय, धर्म एवं अन्य सामाजिक भेद बहुत पीछे छूट गए हैं। जैसा कि मुक्तिबोध का मानना है कि प्रथम बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किए, प्रथम बार युगों-युगों से दलित शोषित जनता, अभिजात्य वर्ग के सामने सिर उठाकर खड़ी हो सकी।

यह भक्ति आंदोलन की ही देन है। वस्तुतः भक्ति जिस संदर्भ में आन्दोलनात्मक तेवर प्राप्त करती है, वह स्वभावतः सामाजिक ही हो सकता है। आचार्य शुक्ल प्रथम समीक्षक थे, जिन्होंने भक्ति काव्य का मूल्यांकन लोक धर्म और लोक जागरण की दृष्टि से किया, यद्यपि उनकी अपनी कुछ सीमाएँ है, जिसके तहत वे मन्त काव्य धारा में अन्तर्निहित प्रगतिशील वस्तुतत्त्व का सटीक विश्लेषण नहीं कर सके।

किन्तु उन्होंने साहित्यिक मूल्यांकन को जनवाद की जो कसौटी प्रदान की उससे भक्ति काव्य के परवर्ती मूल्यांकन को बल मिला।

डॉ. रामविलास शर्मा भक्ति साहित्य के सामाजिक पक्ष को ही इंगित करते हुए कहते हैं-

"एक समय रहम्यवादी कवियों ने लोक जागरण में बहुत बड़ी भूमिका निभाई रहस्यवादी कवियों ने मनुष्य में ब्रह्म सत्ता का साक्षात्कार करके मानव धर्म का मार्ग ही प्रशस्त किया।"

अस्तु जिस काव्य को आचार्यों ने राष्ट्र की शिराओं में रक्त का संचार करने वाला कहा है नम्न वर्ग के अन्दर आत्मविश्वास जाग्रत करने वाला कहा है, लोक जागरणकारी कहा है, उसकी सामाजिक भूमिका का सांगोपांग मूल्यांकन करना आवश्यक है।

विवेच्य विषय-वस्तु के संबंध में प्रथम प्रश्न तो यह उठता है कि आचार्य शुक्ल से लेकर द्विवेदी जी, रामविलास शर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नामवर सिंह, शिव कुमार मिश्र आदि आचार्यों ने जिस भक्ति काव्य का सामाजिक मूल्यांकन करने पर बल दिया है, क्या उसकी मूल चिंता सामाजिक ही है?

वस्तुतः समूचे भक्ति काव्य की मूल चिन्ता आध्यात्मिक है, इसके बावजूद आज अगर वह हमें किसी भी कारण सर्वाधिक प्रभावित, प्रेरित, उद्वेलित करता है तो अपने उदात्त सामाजिक दृष्टि के कारण। चूंकि इस काल खण्ड के संतों और भक्तों की आध्यात्मिक चिता आकाशीय नहीं है, बल्कि भारतीय जीवन से ही उपजी है और इसी पर प्रतिष्ठित है, इसलिए उनकी आध्यात्मिक चिता का समीकरण सामाजिक सोच को कही भी काटता नहीं है। जहाँ कि सामाजिक चिता. आध्यात्मिक चिंता से संग्रथित है।

बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों ने जिस विचार-क्रान्ति का आरम्भ किया था, उसकी भावात्मक निष्पत्ति सत काव्य धारा में ही होती है। सन्त काव्य धारा के पूर्व समाज की नियामक शक्तियाँ इसी विस्फोटक स्थिति की तरफ ले जा रही थीं, जहां रूढ अभिजात्य और सामंती समाज को खुली चुनौती मिल सकी।

कबीर, नानक और रैदास का ब्रह्म तमाम पारम्परिक, दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर है और चूंकि वह घट-घट में व्याप्त है, इसलिए ब्रह्म के साधकों के लिए ईश्वर के न्याय, सत्य और ऐश्वर्य की सत्ता के अनुरूप मानवीय सत्ता की परिकल्पना सहज साध्य हो जाती है और यही कारण है कि एकला चलने का

व्रत लेने वाले कबीर हिन्दू और मुस्लिम-दोनों धर्मों से तटस्थ रहने वाले कबीर सामंती समाज की विच्छित दशा को देखकर रो पडते हैं-

चलती चाकी देख के दिया कबीरा रोय,
दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।

सन्त काव्य धारा ऐसे समाज की कल्पना करती है, जिसमें धार्मिक रूढ़ि, परम्परागत, अंधविश्वास, जातिगत, वर्णगत, सम्प्रदायगत भेद एवं नाना प्रकार के कर्मकांडों के लिए कोई जगह नहीं है, जो समाज अपने अनुभव में अपनी संवेदना में ईमानदार है, श्रमशील है, और प्रवृत्ति में निवृत्ति का साधक है, वह समाज इन संतों के लिए काम्य है-

संतों वह घर सबसे न्यारा।
अरेइन दोउन राह न पाई।
पांडे बूझी पियहू तुम पानी।

संत काव्य धारा में कबीर के साहित्य में समाज के प्रति जो उदग्र (प्रगतिशील) क्रान्तिधर्मी, वैज्ञानिक विवेकवाद से समर्थित स्वच्छ, सरल एवं ईमानदार दृष्टिकोण का परिपाक पाया जाता है, वह सन्त मत के अन्य कवि दादू, रैदास, मलूक, पीपा, सेन, नानक, पल्टू, भीखा, दरिया, रज्जब साहब आदि यहाँ प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि इन सारे संतों की दार्शनिक एवं सामाजिक मान्यताएँ लगभग एक जैसी हैं, लेकिन प्रतीत होता है कि इतिहास को सामाजिक स्थिति पर जितना आक्रोश व्यक्त करना था, जितना झाड़-फटकार करना था, वह सब कबीर में मूर्त हो गया है।

लेकिन किंचित इस तथ्य की ऐतिहासिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि प्रायः निम्न वर्ग से आए हुए ये सभी सन्त दलित वर्ग के अंदर अनोखे आत्मविश्वास का संचार करते हैं और इसी दृष्टि से इनके काव्य के आध्यात्मिक आस्वाद में समाज के लिए प्रगतिशील दृष्टि का उन्मेष मिलता है, जिसकी प्रासंगिकता भक्ति काव्य की अन्य धाराओं से अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

निर्गुण भक्ति धारा की दूसरी शाखा, सूफी काव्य धारा का भी महत्व, उसकी सामाजिकता के कारण बढ़ जाता है। किंचित आचार्यों ने यहाँ तक कह डाला है कि सूफी काव्य सांस्कृतिक मेलजोल की उपज है, इस तथ्य में आंशिक सच्चाई हो सकती है।

वस्तुत: सूफी काव्य की जो लोकधर्मी जमीन है उसका सामाजिक मूल्यांकन अनिवार्यत: उसके काव्य को प्रमाणिक रूप से खोलता है। जैसा कि विजयदेव नारायण साही का कहना है कि जायसी सूफी हो न हों वे कवि अवश्य हैं। वे प्रेम के कवि हैं और धर्मनिरपेक्ष मानसिकता के कवि हैं।

आचार्य शिव कुमार मिश्र, राम स्वरूप चतुर्वेदी ने जायसी की धर्मनिरपेक्ष दृष्टि को सराहा है। वस्तुत: सच्ची रचनाशीलता का साक्ष्य कथ्य की लोकधर्मी जमीन से मिल जाता है। जिस सामन्ती संस्कृति में नारी विजय की वस्तु थी और उसे पाने के लिए बड़े-बड़े युद्ध हुआ करते थे, उसे जायसी खुदा का दर्जा देते है और उसे पाने के लिए रत्नसेन राजसी वैभव त्यागकर जोगिया बाना धारण कर लेता है।

जायसी अपनी कथा के इर्द-गिर्द समूचे भारतीय समाज की रीति, नीति, परम्परा नैतिक मूल्य, उत्सव आदि को इस तरह ढूँढ़ते हैं कि कथ्य के माध्यम से ही सम्प्रषित होने वाला लोक-समारोह बड़ी सहजता के साथ यह ज्ञापित करने लगता है कि यहाँ की प्रकृति जमीन।

नदी, नाले, पशु-पक्षी, वन-उपवन से कवि का कितना गहरा नाता है। इसे जायसी का लोक प्रेम और राष्ट्रप्रेम दोनों कहा जा सकता है। सन्त काव्य में मानव प्रेम, मानव-धर्म की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। ठीक यही बात सूफी काव्य में देखने की मिलती है।

इसका सबसे बड़ा रचनात्मक सामाजिक उपक्रम यह है कि सामंती संस्कृति का अतिक्रमण करके कवि सहज नैसर्गिक जीवनोत्सव की प्रतिष्ठा करता है, जिसकी जमीन प्रेम की जमीन होती है और जिसकी दृष्टि सत्य न्याय और स्वाभिमान की और होती है।

यद्यपि कुछ प्रगतिशील समीक्षकों का मानना है कि सत काव्य धारा जिस प्रगतिशील अन्तर्वस्तु को लेकर चल रही थी. उसे अभिजात्य वर्ग बीच में ही खंडित कर देता है। इस तथाकथित वर्ग ने ही सगुण काव्य के द्वारा निर्गुण के किए-कराए पर पानी फेर दिया।

लेकिन अन्य आचार्य यथा डॉ. प्रेम शकर डॉ. मैनेजर पाण्डेय आदि का मानना है कि इस तथ्य में आशिक सत्य ही है। डॉ. प्रेम शकर सूर काव्य में चारागाही सस्कृति के आलोक में उसकी सामाजिकता की गहरी जाच पड़ताल करते हैं और डॉ. मैनेजर पाण्डेय भी स्वच्छन्दता के शिखर कृष्ण के क्रान्तिधर्मी चरित्र की व्याख्या करते हैं।

वह चरित्र जो कि अपने समय के सामती और अभिजात्यवाद को घोषित चुनौती देता है। जिस काल खण्ड में मातृत्व गर्हित हो चला था नारियाँ हरमों की वस्तु बन चुकी थीं और विलासिता के कारण राजाओं का ध्यान प्रजा की तरफ एकदम नहीं जाता था, उस काल खण्ड में सूरदास अपनी ईमानदार एवं चरम संवेदनशील रचनाशीलता का साक्ष्य देते हुए यशोदा जैसी मां की प्रतिष्ठा करते हैं और बल्लभाचार्य-निर्दिष्ट म्लेच्छाक्रांत धरती पर मातृत्वरूपी दूध की गंगा ही बहा देते हैं।

शिशु को ब्रह्म के रूप में चित्रित करके वह मानवीय संवेदना के कोमलतम तैतु पर उगली रखते हैं। राजसी विलासिता के समक्ष यह गृहस्थ पावन की प्रतिष्ठा है। सूर का काव्य, नारी की शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा करके उस समय के समाज को सबसे बड़ा उपहार देता है। भ्रमर गीत प्रसंग पर आचार्य शुक्ल जैसे मर्यादावादी समीक्षक भी रीझ जाते है।

प्रथम बार प्रेम सामती-चौखटों से बाहर निकलकर प्रकृति के खुले प्रांगण में आता है और नारिया सामती चौहहियों से बाहर अपने व्यक्तिं स्वातन्य की घोषणा करती हैं। आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी, कृष्ण काव्य धारा की सामाजिकता को लक्षित करते हुए उसे गृहस्थ धर्म का काव्य कहते है। उनके अनुसार सूर सागर में गृहस्थों का उत्सव है। उस समय के टूटते हुए समाज के लिए यह बहुत बड़ा सम्बल था।

कालान्तर में मीरा तो सूर की गोपियों की व्यावहारिक व्याख्या ही बनकर आती हैं। कृष्ण काव्य धारा में निहित सामाजिक दृष्टि का प्रगतिशील रूप किसी भी दृष्टि से कम महत्व का नहीं है, जबकि यहाँ आकर वैदिक विधि निषेध खण्ड-खण्ड टूट गए हैं, लेकिन यह आश्चर्यजनक तथ्य है और आकस्मिक नहीं है कि समाज यहाँ ज्यादा सशक्त ज्यादा उन्नल और उसी अनुपात में ज्यादा संगठित दिखाई पड़ता है।

आचार्य शुक्ल भक्ति काव्य की सपरीक्षा करने हुए उसके लोक धर्म का चरम रूप तुलसीदास के रामचरित मानस में पाते हैं। रामभक्ति धारा में तुलसी की रचनाशीलता उस शिखर को छू लेती है, जिसके बाद राम का आख्यान प्राय: नि:शेष हो गया है।

तुलसी अपने समय की सामाजिक व्यवस्था से असंतुष्ट होते हुए रामराज्य की परिकल्पना करते हैं, टूटते हुए समाज को बांधने के लिए वह राम जैसा अनुशासनबद्ध, मर्यादित और शाखशील तथा सौदर्य का शिखर चरित्र चिन्हित

करते हैं। समूचे भक्ति साहित्य में जिस प्रकार तुलसी की दृष्टि सर्वाधिक समन्वयात्मक है, उसी प्रकार उनकी सामाजिक दृष्टि भी सर्वाधिक नीतिबद्ध एवं संगठित है, जिसका परिणाम 'मानस' जैसे अद्वितीय प्रबन्ध की सूर्जना है।

प्रगतिशील समीक्षकों का मानना है कि चूंकि तुलसीदास सनातन धर्मी मानसिकता में संशोधन के ही पक्ष में है, निर्गुणियों की तरह वे पूर्ण सामाजिक परिवर्तन के पक्षधर नहीं है, इसलिए आज के संदर्भ में आनुपातिक तौर पर उनका काव्य कम प्रगतिशील है। किन्तु रामकाव्य धारा के सामाजिक प्रदेय का मूल्याकन किसी एक कसौटी पर नहीं किया जा सकता है।

जो भक्ति काव्य ग्रंथ उत्तर भारत के लोगों का कण्ठहार बन जाता है, निश्चित ही उसमें लोक मनोविज्ञान का गहरा रचाव रहता है। लोक मनोविज्ञान का प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करने वाला मानस. सामाजिक जमीन पर जन से सीधे जुड़ा हुआ है। परिवार से लेकर समाज और राष्ट्र तक की सुसंगठित संरचना की परिकल्पना केवल तुलसी के समय में या आज के समय में ही नहीं, बल्कि हर युग के लिए महत्वपूर्ण है।

हिन्दी भक्ति काव्य के सामाजिक सरोकार

हिन्दी भक्ति काव्य मीराबाई,कबीर और संत रविदास ने रचे थे। उन्होंने शिक्षा में पारंगत न होने के बावजूद एक उम्दा भक्ति काव्य समाज को दिया है। सामाजिक चेतना और आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाले इन हिन्दी भक्ति काव्य ने भारत में संस्कृति का सिंचन किया है।

मीराबाई ने कृष्ण भाक्ति में लीन होकर,राजा राणा के राज्य को तिलांजलि दे दी थी। राणाजी ने मीरा की परीक्षा के लिए जहर दिया था। वह कृष्ण के प्यार में जहर भी पी लेती है फिर भी,उसे कोई तकलीफ नहीं हुई थी। मीरा के पद समाज को श्री कृष्ण की भक्ति की ओर ले जाने में सफल हुए हैं।

कबीरजी भी उतने ही धार्मिक थे। उनका साहित्य भी समाज के जीवन के साथ सरोकार रखता है। हिन्दी भक्ति काव्य के रूप में वाल्मिकी रचित रामायण,हिन्दी महाभक्ति काव्य है। रामायण ने सामाजिक जीवन कैसे जिया जाता है,पितृ प्रेम,मातृ प्रेम,पत्नी प्रेम,भातृ भाव,प्रजा प्रेम,मित्र प्रेम आदि की रीत समाज को दी है।

महाभारत भी एक हिन्दी महा काव्य है,जिसकी रचना वेद व्यासजी ने की थी। रामायण और महाभारत दोनों पहले भारतीय धर्म भाषा,संस्कृत में लिखे गए

थे,लेकिन उसका हिन्दी में संस्करण भी किया गया है। ये दोनों हिन्दी भक्ति ग्रन्थ सामाजिक जीवन में उन्नति लाते हैं। सामाजिक जीवन की परिभाषा सिखाते हैं।

इसी तरह,संत रविदासजी द्वारा रचे गए भक्ति काव्य भी एक नयी दिशा देते हैं। उन्होंने मांसाहार और नशे से दूर रहने की सीख दी है। वे कर्म-कांड और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। इरान की यात्रा में मुलाकात के दरम्यान,वे बेगमपुरा शहर की कल्पना करतें हैं। बेगमपुरा ऐसा होना चाहिए,जहाँ जात-पात में भेदभाव न हो,सबको अन्न मिले,सब सुख-चेन से जिएं और धर्म भावना के साथ अपना जीवन व्यतीत करें,ऐसी सुन्दर कल्पना संत रविदासजी ने 600 साल पहले की है। संत रविदास के 40 भक्ति पद जो पंजाब में गुरु नानकजी के 'ग्रन्थ साहिब' में शामिल हैं जो जन-जीवन को एक नयी ऊर्जा प्रदान करते हैं। इसी तरह,हिन्दी भक्ति काव्य सामाजिक चेतना और संस्कृति के जतन के लिए एक उम्दा हिन्दी भक्ति काव्य है। वे समाज जीवन से बहुत गहरा सरोकार रखता है।

हिन्दी भक्ति काव्य की रचना संत रविदास,मीराबाई और संत कबीर ने बहुत की है। संत रविदास का साहित्य हिन्दी,अंग्रेजी और पंजाबी में भी उपलब्ध है।

रुसंत रविदास की वाणी

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी
जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।
रैदास राती न सोइए, दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए, छांड सकल अपवाद।
चित सुमिरन करो नैन अवलोकनों,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो,चरण हृदय धरो,
रसना अमृत सम नाम भाखो।
मेरी प्रीति गोविन्द खोजनी घेरे,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सतै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजे,

भाव बिना भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी स्यो,
पैज राखो राजा राम मोरी।

भारत वर्ष के इतिहास में मध्यकालीन युग में लोगों की मुसीबतें ज्यादा थी। देश, प्रान्तों में बंटा हुआ था। मुस्लिमों ने विजय नहीं पाई, लेकिन तबाही मचायी। मंदिर जो रविदास को प्रिय थे,उसी को तोड़ते हुए संत रविदासजी ने देखा था। क्षुद्र को अछूत माना जाता था। मुस्लिम मूर्ति पूजा के विरोधी थे। धर्म परिवर्तन कराया गया। इस युग में पंजाब में गुरु नानक और पूर्व उत्तर में कबीर साहब ने नयी परम्पराओं को जन्म दिया।

संत रविदास आध्यात्मिक सूर्य की आकाश गंगा थे। उनका जन्म राजस्थान में हुआ,ऐसी लोक धारणा है, लेकिन,वे पश्चिम भारत में ज्यादा रहे। वे काशी में रहते थे और मोची का काम करते थे। उनका जन्म 1399 ईसवीं सन् और मृत्यु 1527 में मानी जाती है।

उन्होंने जाति प्रथा,मूर्ति पूजा और क्रिया कांड का विरोध किया था। वे सहिष्णु और सादगी से जीते थे। वे ब्राह्मण नहीं थे,पर शास्त्रार्थ में पंडित को पराजित किया था। चित्तौड़ की रानी मीराबाई उनकी शिष्या बनी थी।

रुगुरु-शिष्य का सम्बन्धः-

जो तुम गिरिवर तो हम मोरा,
जो तुम चन्द्र तो हम भये है चकोरा।
माधवे तुम न तोरो तो हम नहीं तोरी,
तुम सो तोरी तो किन सो जोरी।

संत रविदासजी अपने गुरु के प्रति अपनी प्रीत का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि प्रभु,तुम जो पर्वत हो तो मैं मोरा हूँ। मैं आपके प्यार में पागल हूँ। मेरा प्रेम आपके प्रति चन्द्र और चकोर जैसा है। रविदासजी प्रभु को माधव कहकर पुकारते हैं। उनका एक शेर है-

आरजी सो अक्स था इके इल्तफाते दोस्त का,
जिसको नादानी से ऐसे जाबिंदा समझा था मैं।

प्रभु आपने जब आँख घुमा ली, तब पता चला कि ये तो काँटों की सेज है। संत रविदासजी अपने गुरु के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

"जो तुम दिवरा तो हम बाती,
जो तुम तीरथ तो हम जाती।"

वो कहते हैं कि मैं बाती हूँ और तुम दीया हो। संत रविदासजी आदर्श शिष्य का जीवन कैसा होता है, वे बताते हैं। सच्चे भक्त की पहचान कराते हैं।

"रैदास राती न सोइए,दिवस न करिये स्वाद,
अहिनिसी हरिजी सुमिरिए, छांड़ सकल अपवाद।"
तुम मेरे पास होते हो गोया,जब कोई दूसरा नहीं होता।

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मरतबा चाहे कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।"

जब बीज मिट्टी में मिल जाता है तब खुद का अस्तित्त्व खो देता है। वे फूल का रूप धारण कर लेता है। आध्यात्मिक मार्ग भी इसी तरह है। रविदासजी कहते हैं कि सच्चा शिष्य रात में सोता नहीं है। शिष्य हमेशा गुरु के साथ जुड़ा हुआ होता है।

"हम अपने जजबा-ए-बेदार को रुसवा नहीं करती,
शबे गम नींद से आँखों का आलूदा नहीं करेती।"

ये संत दर्शनजी महाराज कहते हैं-आशिक अपनी प्रियतमा से नजर नहीं हटाता, वे आँखों को बदनाम नहीं करता।

संत रविदासजी कहते हैं कि-

"ए दिल बेकरार ओ,रो ले,तड़प ले,जाग ले,नींद की फिक्र क्यों,अभी रात मिली है बेसहर।"

वे कहते हैं कि रात-दिन हमें प्रभु को यही करना चाहिए। सब छोड़कर उनका स्मरण करना चाहिए।

आध्यात्मिकता और धर्म

चित सुमिरन करो,नैन अवलोकनो,
श्रवण वाणी सौ जस पूरी राखौ।
मन सो मधुकर करो,चरण हृदय धरौं,
रसना अमृत राम नाम भाखौ।
मेरी प्रीति गोविन्द स्योंजनी घटै,
मैं तो मोल महँगी लई लिया सटै।
साध संगत बिना भाव नहीं उपजै,

भाव बिनो भक्ति नहीं होय तेरी।
कहे रविदास एक बिनती हरी सयों,
पैज राखो राजा राम मोरी।

इसमें संत रविदास आदर्श शिष्य के जीवन का वर्णन कर रहे हैं। यह आध्यात्मिकता का मार्ग है। प्रेममयी बने बिना कुछ मिलता नहीं है। गुरु और शिष्य में प्रेम होना जरुरी है। जिस तरह चरवाहा अपने गौआ-बकरियों को पहचानता है,उसी तरह गुरु अपने शिष्य को,अपने जीवों को इकठ्ठा करके प्रभु के पास ले जाते हैं।

"जन्म मरण दौउ में नाही जन परोपकारी आये,
जिया दान है भक्ति भावन हरि सयों लेन मिलाये।"

शिष्य का जीवन भंवर जैसा होना चाहिए। जैसे– भंवर फूल के आस-पास घूमता रहता है,वैसे गुरु के पास शिष्य को आगे-पीछे घूमते रहना चाहिए। शिष्य होना शरणागति है। रविदासजी प्रार्थना करते हैं,कि हमें संगत साधू की मिले। संगत से भाव पैदा होता है। प्रभु को याद करना अपने जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। उनके मुख में प्रभु का ही नाम होता था। अपनी आँखों से प्रभु को ही देखना चाहते थे। संत रविदास और कबीर के गुरु स्वामी रामानंद थे। रविदासजी मांसाहार और नशे के विरोधी थे, जाति भेद का विरोध किया था। कर्म-कांड के विरोधी थे, मद्य और पशु हिंसा के विरोधी थे। वे महेनत की कमाई से ही जीना चाहते थे।

"जाति-पाती के फेरे में सुलज रह्यो सब लोग,
मानवता को खात है रैदास जाती को रोग।"

संत तुकाराम ने संत रविदासजी को एक साखी में कहा था-

निवृति ज्ञानदेव सोपान चंगाजी,मेरे जी के नामदेव, नागाजन मित्र,नरहरी सोनार,रविदास कबीर सगा मेरे।

सिखों के गुरु नानकदेवजी ने भक्ति काव्य में कहा है कि,-
"रविदास चमारू उस्तुति करे,हर की रीती निमख एक गाई,
पतित जाति उत्तम भया,चारो चरण पये जग गाई,
रविदास हयाये प्रभु अनूप,नानक गोविद रूप।"

गुरुनानक कहते हैं कि,चारों वर्णों के लोग संत रविदास के चरणों में नमन करते हैं,क्योंकि वे ज्ञानी हैं। मेवाड़ की महारानी भक्त कवियित्री मीराबाई ने गुरु दीक्षा लेकर उनका सन्मान किया था। मीराबाई एक भक्ति काव्य में कहती है कि,-

"मेरा मन लागो गुरु सौ,अब न रहूंगी अटके,
गुरु मिलियो रोहिदासजी,दिन्ही ज्ञान के गुटकी,
रैदास मोहे मिले सदगुरू,दिन्ही सूरत सुरई की,
मीरा के प्रभु ते ही स्वामी,श्री रैदास सतगुरुजी।"

संत रविदासजी भक्ति युग के महान संत थे। गुरु संत रविदासजी के 40 पद "श्री गुरु ग्रन्थ साहेब" में समाविष्ट है। सोलह रागों में अपनी वाणी संत रविदासजी करते थे। रविदासजी कहते हैं कि,-

"रविदास ब्राह्मण मत पुजिये,जो होवे गुण हिन,
पूजिये चरण चंडाल के जो होवे गुण परवीन।"

600 साल पहले मुस्लिम बादशाह ने ईरान में संत रविदास को बुलाया था। ईरान के आबादान शहर में वे गए थे। आबादान के नाम से पर उन्होंने अपनी कल्पना का शहर "बेगमपुरा कैसा होना चाहिए" उसका वर्णन अपनी वाणी में किया है। बेगमपुरा शहर को-

नाउ,दु:ख अन्दोहु नहीं तीही ठाउ,ना तसविस खिराजू न मालू,खउकु न खता,न तरसु जवाळु,अब मोहि वतन गई पाई, हाँ खैरी सदा मेरे भाई।।

कायमु,दायमु सदा पाति साही,दोम न सेम एक सौ आहि।।
आबादानु सदा मशहूर,उहाँ गनी बसही मामूर।।
तिह-तिह शैल करही,जिह भावै।।
महरम महन न को अटकावे।।
कवि रविदास खलास चमारा।।
जो हम सहरी सु मितु हमारा।।

भक्तिकाव्य धारा

हिंदी साहित्य में सम्वत 1375 से सम्वत 1700 तक (14वीं शती से लेकर 16वीं शती तक) का समय भक्ति काल के नाम से जाना जाता है। तीन सौ वर्षों की यह लम्बी धारा मुख्त: दो भागों में प्रवाहित हुई–

1. निर्गुण भक्ति धारा।
2. सगुण भक्ति धारा।

समय के साथ ये दोनों धाराएँ आगे दो-दो उपधाराओं में बँट गई।
निर्गुण भक्ति धारा निम्न दो शाखाओं में बँट गई–

- ज्ञानमार्गी शाखा।
- प्रेममार्गी शाखा।

इसी प्रकार सगुण भक्ति धारा निम्न दो उप शाखाओं में बँट गई–

- कृष्ण भक्ति शाखा।
- रामभक्ति शाखा।

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्तिआंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे, जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों - कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अत: सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था, जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया, जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों

की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधाना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है, पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं, जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं, जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में

सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान् हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठ लनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी, जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए, जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

भक्तिकाल की प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का महत्वपूर्ण काल है . यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती तथा परवर्ती साहित्य से सर्वथा भिन्न विशिष्ट साहित्य है . साहित्य के इतिहास का वह काल जिसमें संत कवियों ने अपनी अमृतवाणी से जनमानस को सिंचित कर उनके ज्ञान का दीप जलाया और पत्नोंमुख समाज में अपनी दिव्यवाणी से नवीन चेतना जागृत कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की ,भक्तिकाल के नाम से विख्यात है . डॉ. 'यान्सुन्दर दास ने इस काल के सम्बन्ध में कहा है कि जिस युग में कबीर ,जायसी ,सूर,तुलसी जैसे रस – सिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंत करणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी ,उसे साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल कहते हैं .निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस सन्दर्भ में हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य की विशेषताओं का वर्णन कर रहे हैं –

1. नाम का महत्व–कीर्तन भजन आदि के रूप में भगवान् का गुण सभी शाखाओं कवियों में पाया जाता है .सभी कवियों ने अपने-अपने इष्ट देव के नाम का स्मारक किया है .गोस्वामी तुलसीदास तो नाम को राम से भी बड़ा मानते हैं।

तुसलीदास जी कहते हैं - मोर मत बड नाम दुहूँ . जेहि किए जग नित बल बूते।

2. गुरु का महत्व–इस काल में गुरु का महत्व ईश्वर के समान या उससे बढ़कर बताया गया है . कबीर गुरु को ईश्वर से बड़ा बताते हैं -

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय। बलिहारी गुरू आपने गोविन्द दियो बताय।।

3. भक्ति भावना की प्रधानता–सभी कवियों में भक्ति भावना की प्रधानता हैं। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है - हरि भक्ति जाने बिना ,बूढ़ी मुआ संसार सूर और तुलसी का सम्पूर्ण भक्ति प्रधान है।

4. आडम्बर का विरोध–सभी भक्ति कवियों ने ब्राह आडम्बरों का विरोध किया है। कबीर के शब्दों में - जप माला छापा तिलक ,सरे एक एको काम।

5. समन्वय की भावना–भक्ति काल के साहित्य में धार्मिक ,सामाजिक ,दार्शनिक आदि सभी क्षेत्रों में समन्वय की भावना मिलती हैं . तुलसीदास में तो समन्वय की विराट चेष्टा मिलती है, भक्ति ज्ञान दर्शन के साथ भाषा शैली एवं सगुण और निर्गुण में भि तुलसी में समन्वय की चेष्टा की है।

6. अलौकिक साहित्य–इस काल में जितने भी काव्य लिखे गए हैं, सभी ईश्वरीय हैं, किसी व्यक्ति पर काव्य लिखने का इसमें कोई प्रयास नहीं किया गया है, इस प्रकार ये सभी रचनाएँ आध्यात्मिक कोटि की हैं।

7. दरबारी साहित्य का त्याग–जायसी के अतिरिक्त अन्य कोई कवि कभी कसी राजाश्रय में नहीं रहा, ए कवि राजाश्रय से मुक्त रहकर स्वतंत्र रचना करते थे।

8. काव्य रूप–इस काल के कृष्णमार्गी तथा ज्ञानमार्गी कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की है, इस विपरीत प्रेम मार्गी तथा राज्मार्गी कवियों ने मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों में रचना की है, भाषा की विविधता इस काल की विशेष प्रधानता है, इस काल के कवियों ने मुक्तक ,गेय,पद ,दोहा ,चौपाई ,सोरठा आदि विविध छंदों का प्रयोग किया है। शांत रस इस काल का प्रधान रस हैं।

निर्गुण काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवत्तियाँ

1. निर्गुण निराकार ईश्वर में विश्वास।
2. लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक/आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति।
3. धार्मिक रूढ़ियों व सामाजिक कुरीतियों का विरोध।
4. जाति प्रथा का विरोध व हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन।
5. रहस्यवाद का प्रभाव।
6. लोक भाषा का प्रयोग।

कृष्णाश्रयी शाखा

कृष्णाश्रयी शाखा का सबसे अधिक प्रचार और प्रसार हुआ है। कृष्णाश्रयी शाखा में भगवान कृष्ण के सौंदर्य-पक्ष की ही प्रधानता रही। कृष्ण का चरित्र विलक्षण है। उनका ध्यान कृष्ण के मधुर रूप और उनकी लीला माधुरी पर ही केंद्रित रहा। भगवान की महिमा का गान करते हुए कहीं-कहीं प्रसंगवश उनके लोक रक्षक रूप का भी उल्लेख कर दिया है, किन्तु मुख्य विषय गोपी-कृष्ण का प्रेम है। कृष्ण-भक्ति का केन्द्र वृन्दावन था। श्री कृष्ण की लीला-भूमि होने के कारण उनके भक्तों ने भी ब्रज को अपना निवास स्थान बनाया। रसखान के भी वृन्दावन में रहने का उल्लेख मिलता है। अनेक संप्रदायों में उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के सूरदास जैसे महान् कवि हुए हैं।

वात्सल्य एवंशृंगार रस के शिरोमणि भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिन्दी साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्य ही लिखा है। श्री कृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है, इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य की ही प्रधानता रही है। लगभग सभी कवि गायक थे, इसलिए कविता और संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में प्राप्त होता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति ने पल्लवित की थी, उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। मानव की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रस में डूबो दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड़ गई। कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि सूरदास, नंददास, मीराबाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास आदि थे। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण भक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण सदैव एक अद्‌भुत व विलक्षण व्यक्तित्त्व माने जाते रहे हैं। हमारी प्राचीन ग्रंथों में यत्रा– तत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है, जिससे उनके जीवन के विभिन्न रूपों का पता चलता है।

यदि वैदिक व संस्कृत साहित्य के आधार पर देखा जाए तो कृष्ण के तीन रूप सामने आते हैं–

1. बाल व किशोर रूप, 2. क्षत्रिाय नरेश, 3. ऋषि व धर्मोपदेशक।

श्रीकृष्ण विभिन्न रूपों में लौकिक और अलौकिक लीलाएं दिखाने वाले अवतारी पुरूष हैं। गीता, महाभारत व विविध पुराणों में उन्ही के इन विविध रूपों के दर्शन होतें हैं।

कृष्ण महाभारत काल में ही अपने समाज में पूजनीय माने जाते थे। वे समय समय पर सलाह देकर धर्म और राजनीति का समान रूप से संचालन करते थे। लोगों में उनके प्रति श्रद्या और आस्था का भाव था। कृष्ण भक्ति काव्य धारा के कवियों ने अपनी कविताओं में राधा– कृष्णा की लीलाओं को प्रमुख विषय बनाकर वृहद काव्य सृजन किया। इस काव्यधारा की प्रमुख विशेशतायें इस प्रकार है–

1. राम और कृष्ण की उपासना

समाज में अवतारवाद की भावना के फलस्वरूप राम और कृष्ण दोनों के ही रूपों का पूजन किया गया।

दोनों के ही पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक मानकर, आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया।

किंतु जहाँ राम मर्यादा पुरषोत्तम के रूप में सामने आते हैं, बही कृष्ण एक सामान्य परिवार में जन्म लेकर सामंती

अत्याचारों का विरोध करते हैं। वे जीवन में अधिकार और कर्त्तव्य के सुंदर मेल का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

वे जिस तन्मयता से गोपियों के साथ रास रचाते हैं , उसी तत्परता से राजनीति का संचालन करते हैं या फिर महाभारत के युद्ध भूमि में गीता उपदेश देते हैं।

इस प्रकार से राम व कृष्ण ने अपनी अपनी चारित्रिाक विशेषताओं द्वारा भक्तों के मानस को आंदोलित किया।

2. राधा-कृष्ण की लीलाएं

कृष्णा–भक्ति काव्य धारा के कवियों ने अपनी कविताओं में राधा–कृष्णा की लीलाओं को प्रमुख विषय बनाया।

श्रीमदभागवत में कृष्ण के लोकरंजक रूप को प्रस्तुत किया गया था। भागवत के कृष्ण स्वंय गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं।

गोपियाँ बार– बार प्रार्थना करती है , तभी वे प्रकट होतें हैं जबकि हिन्दी कवियों के कान्हा एक रसिक छैला बनकर गोपियों का दिल जीत लेते है।

सूरदास जी ने राधा–कृष्ण के अनेक प्रसंगों का चित्रण ककर उन्हें एक सजीव व्यक्तित्त्व प्रदान किया है।

हिन्दी कवियों ने कृष्ण ले चरित्र को नाना रूप रंग प्रदान किये हैं , जो काफी लीलामयी व मधुर जान पड़ते हैं।

3. वात्सल्य रस का चित्रण

पुष्टिमार्ग प्रारंभ हुया तो बाल कृष्ण की उपासना का ही चलन था। अत – कवियों ने कृष्ण के बाल रूप को पहले पहले चित्रित किया।

यदि वात्सल्य रस का नाम लें तो सबसे पहले सूरदास का नाम आता है, जिन्हें आप इस विषय का विशेषज्ञ कह सकते हैं। उन्होंने कान्हा के बचपन की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियाँ भी ऐसी चित्रात की है, मानो वे स्वयं वहाँ उपस्थित हों।

मैया कबहूँ बढेगी चोटि ?
किनी बार मोहिं दूध पियत भई , यह अजहूँ है छोटी।

सूर का वात्सल्य केवल वर्णन मात्र नहीं है। जिन जिन स्थानों पर वात्सल्य भाव प्रकट हो सकता था , उन सब घटनाओं को आधार बनाकर काव्य रचना की गयी है। माँ यशोदा अपने शिशु को पालने में सुला रही हैं और निंदिया से विनती करती हैं कि वह जल्दी से उनके लाल की अंखियों में आ जाए।

जसोदा हरी पालनै झुलावै।
हलरावै दुलराय मल्हरावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल कौ आउ निंदरिया, काहै मात्र आनि सुलावै।
तू काहे न बेगहि आवे, तो का कान्ह बुलावें।

कृष्णा का शैशव रूप घटने लगता है तो माँ की अभिलाषाएं भी बढ़ने लगती हैं। उसे लगता है कि कब उसका शिशु उसका आँचल पकड़कर डोलेगा। कब, उसे माँ और अपने पिता को पिता कहके पुकारेगा , वह लिखते हैं–

जसुमति मन अभिलाष करै,
कब मेरो लाल घुतरुवनी रेंगै, कब घरनी पग द्वैक भरे,
कब वन्दहिं बाबा बोलौ, कब जननी काही मोहि ररै ,
रब घौं तनक-तनक कछु खैहे, अपने कर सों मुखहिं भरे
कब हसि बात कहेगौ मौ सौं, जा छवि तै दुख दूरि हरै।

सूरदास ने वात्सल्य में संयोग पक्ष के साथ– साथ वियोग का भी सुंदर वर्णन किया है। जब कंस का बुलावा लेकर अक्रूर आते हैं तो कृष्ण व बलराम को मथुरा जाना पंता है। इस अवसर पर सूरदास ने वियोग का मर्म्स्पर्सी

चित्र प्रस्तुत किया है। यशोदा बार-बार विनती करती हैं कि कोई उनके गोपाल को जाने से रोक ले।

जसोदा बार-बार यों भारवै
है ब्रज में हितू हमारौ, चलत गोपालहिं राखै

जब उधौ कान्हा का संदेश लेकर आते हैं, तो माँ यशोदा का हृदय अपने पुत्र के वियोग में रो देता है, वह देवकी को संदेश भिजवाती हैं।

संदेस देवकी सों कहियो।
हों तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
उबटन तेल तातो जल देखत ही भजि जाने
जोई-चोर मांगत सोइ-सोइ देती करम-करम कर न्हाते।
तुम तो टेक जानतिही धै है ताऊ मोहि कहि आवै।
प्रातः उठत मेरे लाड लडैतहि माखन रोटी भावै।

4. शृंगार का वर्णन

कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण व गोपियों के प्रेम वर्णन के रूप में पूरी स्वछंदता सेशृंगार रस का वर्णन किया है। कृष्ण व गोपियों का प्रेम धीरे– धीरे विकसित होता है। कृष्ण , राधा व गोपियों के बीच अक्सर छेड़छाड़ चलती रहती है–

तुम पै कौन दुहावै गैया
इत चितवन उन धार चलावत, यहै सिखायो मैया।
सूर कहा ए हमको जातै छाछहि बेचनहारि।

कवि विद्यापति ने कृष्ण के भक्त-वत्सल रूप को छोड़ कर शृंगारिक नायक वाला रूप ही चित्रित किया है।

विद्यापति की राधा भी एक प्रवीण नायिका की तरह कहीं मुग्धा बनाती है , तो कभी कहीं अभिसारिका। विद्यापति।

के राधा– कृष्ण यौवनावस्था में ही मिलते हैं और उनमे प्यार पनपने लगता है।

प्रेमी नायक , प्रेमिका को पहली बार देखता है तो रमनी की रूप पर मुग्ध हो जाता है।

सजनी भलकाए पेखन न मेल
मेघ-माल सयं तड़ित लता जनि
हिरदय सेक्ष दई गेल।

हे सखी ! मैं तो अच्छी तरह उस सुन्दरी को देख नही सका, क्योंकि जिस प्रकार बादलों की पंक्ति में एका एअ।

बिजली चमक कर चिप जाती है उसी प्रकार प्रिया के सुंदर शरीर की चमक मेरे हृदय में भाले की तरह उतर गयी

और मैं उसकी पीडा झेल रहा हूँ।

विद्यापति की राधा अभिसार के लिए निकलती है तो सौंप पाँव में लिप्त जाता है। वह इसमे भी अपना भला

मानती है , कम से कम पाँव में पड़े नूपुरों की आवाज तो बंद हो गयी।

इसी प्राकार विद्यापति वियोग में भी वर्णन करते हैं। कृष्ण के विरह में राधा की आकुलता , विवशता।

दैन्य व निराशा आदि का मार्मिक चित्रण हुया है।

सजनी, के कहक आओव मधाई।
विरह-पयोचि पार किए पाऊव, मझुम नहिं पति आई।
एखत तखन करि दिवस गमाओल, दिवस दिवस करि मासा।
मास-मास करि बरस गमाओल, छोड़ लूँ जीवन आसा।
बरस-बरस कर समय गमाओल, खोल लूं कानुक आसे।
हिमकर-किरन नलिनी जदि जारन, कि कर्ण माधव मासे।

इस प्रकार कृष्ण भक्त कवियों ने प्रेम की सभी अवस्थाओं व भाव-दशाओं का सफलतापूर्वक चित्रण किया है।

5. भक्ति भावना

यदि भक्त– भावना के विषय में बात करें तो कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास , कुंमंदास व मीरा का नाम उल्लेखनीय है।

सूरदासजी ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ग्रहण कर लेने के पूर्व प्रथम रूप में भक्ति– भावना की व्यंजना की है।

नाथ जू अब कै मोहि उबारो
पतित में विख्यात पतित हौं पावन नाम विहारो।।

सूर के भक्ति काव्य में अलौकिकता और लौकितता , रागात्मकता और बौद्धिकता , माधुर्य और वात्सल्य सब मिलकर एकाकार हो गए हैं।

भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्ति होने के नाते उनके मन से सच्चे भाव निकलते हैं। उन्होंने ही भ्रमरनी परम्परा को नए रूप में प्रस्तुत किया। भक्त– शोरोमणि सूर ने इसमे सगुणोपासना का चित्रण , हृदय की अनुभूति के आधार पर किया है।

अंत में गोपियों अपनी आस्था के बल पर निर्गुण की उपासना का खंडन कर देती हैं।

उधौ मन नाहिं भए दस-बीस
एक हुतो सो गयो 'याम संग
को आराधै ईश।

मीराबाई कृष्ण को अपने प्रेमी ही नही , अपितु पति के रूप में भी स्मरण करती है। वे मानती है कि वे जन्म– जन्म से ही कृष्ण की प्रेयसी व पत्नी रही हैं। वे प्रिय के प्रति आत्म– निवेदन व उपालंभ के रूप में प्रणय– वेदना की अभिव्यक्ति करती है।

देखो सईयां हरि मन काठ कियो
आवन कह गयो अजहूं न आयो, करि करि गयो
खान-पान सुध-बुध सब बिसरी कैसे करि मैं जियो
वचन तुम्हार तुमहीं बिसरै, मन मेरों हर लियो
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिन फारत हियो।

भक्ति काव्य के क्षेत्र में मीरा सगुण– निर्गुण श्रद्धा व प्रेम , भक्ति व रहस्यवाद के अन्तर को भरते हुए , माधुर्य भाव को अपनाती है। उन्हें तो अपने सांवरियां का ध्यान कराने में , उनको हृदय की रागिनी सुनाने व उनके सम्मुख नृत्य करने में ही आनंद आता है।

आली रे मेरे नैणां बाण पड़ीं।
चित चढ़ी मेरे माधुरी मुरल उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंछ निहारूं अपने भवन खड़ी।

6. ब्रज भाषा व अन्य भाषाओं का प्रयोग

अनेक कवियों ने नि:संकोच कृष्ण की जन्मभूमि में प्रचलित ब्रज भाषा को ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया। सूरदास व नंददास जैसे कवियों ने भाषा के रूप को इतना निखार दिया कि कुछ समय बाद यह समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई।

यद्यपि ब्रज भाषा के अतिरिक्त कवियों ने अपनी-अपनी मातृ भाषाओं में कृष्ण काव्य की रचना की। विद्यापति ने मैथिली भाषा में अनेक भाव प्रकट किए।

सप्ति हे कतहु न देखि मधाई
कांप शरीर धीन नहि मानस, अवधि निअर मेल आई
माधव मास तिथि भयो माधव अवधि कहए पिआ गेल।
मीरा ने राजस्थानी भाषा में अपने भाव प्रकट किए।
रमैया बिन नींद न आवै
नींद न आवै विरह सतावै, प्रेम की आंच हुलावै।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के समन उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूप – रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं। भक्ति का स्वरूप – इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है – सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है – भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है। लोक-मंगल की भावना – रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत है। समन्वय भावना – तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही। काव्य शैलियाँ – रामकाव्य में काव्य की प्राय:

सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है। रस – रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा। भाषा – रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है। छंद – रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। अलंकार – रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

रामभक्ति काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहे है। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूप –राम स्वरूप (1920-26 दिसंबर, 1998) वैदिक परम्परा के प्रमुख बुद्धिजीवी थे। उनके लेखन ने सीता राम गोयल और अन्य कई लेखको को प्रभावित किया। रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील,

शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं।

भक्ति का स्वरूप – भक्ति आस्था है। भजन किसका ? ईश्वर का, महान का, अपनेपन का। महान वह है, जो चेतना के स्तरों में मूर्धन्य है, यज्ञियों में यज्ञिय है, पूजनीयों में पूजनीय है, सात्वतों, सत्वसंपन्नों में शिरोमणि है और एक होता हुआ भी अनेक का शासक, कर्मफलप्रदाता तथा भक्तों की आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला है।इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है – सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है – भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है।

लोक-मंगल की भावना – रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है।

समन्वय भावना – तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है।

राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं।

लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी।

सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ – रामकाव्य में काव्य की प्राय: सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है।

रस – रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में श्रृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा।

भाषा – रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का श्रृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है।

छंद – रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार – रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और नाम की उपासना करते थे। गुरु को वे बहुत सम्मान देते थे और जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते

थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढ़ियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृध्द थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है, इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं - नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है, जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं।

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति उपासना की जा सकती है, किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है, जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा है।इस सम्बन्ध में जब हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं।

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य

नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्त:करण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्ध्दर्शन कराती है।

ज्ञानमार्गी काव्यधारा की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

संत कवियों ने निगुर्ण साधना को अपनाया। अवतारवाद की बात इन कवियों ने नहीं की, लगभग सब संत अपढ़ थे, परंतु अनुभव की दृष्टि से समृध्द थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं– नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास

क्योंकि निर्गुण साधना का आलम्बन निराकार है, फलस्वरूप वह जन साधारण के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो पाती। बहुत से लोगों का मानना है कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय तो हो सकता है, किंतु भक्ति साधना का नहीं, क्योंकि साधना तो किसी साकार मूर्त और विशिष्ट के प्रति ही उन्मुख हो सकती है। सामान्य जनता का विश्वास और आचरण भी इसी तर्क की पुष्टि करता दिखाई देता है। ब्रह्म के दो रूप विद्यमान हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप की अपेक्षा निर्गुण रूप दुर्लभ है, सगुण भगवान सुगम है–

सगुण रूप सुलभ अति,
निर्गुण जानि नहीं कोई,
सुगम अगम नाना चरित,
सुनि-सुनि मन भ्रम होई।

संत मत के अनुसार आत्मा-परमात्मा का अंश है। ज्ञानपूर्ण भक्ति को कबीर राम, सत्यपुरुष, अलख निरंजन, स्वामी और शून्य आदि से पुकारते हैं। निर्गण की उपासना, मिथ्याडंबर का विरोध, गुरु की महत्ता, जाति-पांति के भेदभाव का

विरोध, वैयक्तिक साधना पर जोर, रहस्यवादी प्रवृत्ति, साधारण धर्म का प्रतिपादन, विरह की मार्मिकता, नारी के प्रति दोहरा दृष्टिकोण, भजन, नामस्मरण, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना आदि संत काव्य के मुख्य प्रयोजन हैं।

संत शाखा के (आराध्य) "राम" तो अगम हैं और संसार के कण-कण में विराजते हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी, एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्त जगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है, पर कबीर के राम परम समर्थ भले हों, लेकिन समस्त जीवों और जगत से भिन्न तो कदापि नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत वे तो सबमें व्याप्त रहने वाले रमता राम हैं।

संत शाखा की साधना ''मानने से नहीं, ''जानने से आरम्भ होती है। कबीर जैसे संत किसी के शिष्य नहीं, रामानन्द जैसे गुरु द्वारा चेताये हुए चेला हैं। उनके लिए राम रूप नहीं है, दशरथी राम नहीं है, उनके राम तो नाम साधना के प्रतीक हैं। उनके राम किसी सम्प्रदाय, जाति या देश की सीमाओं में कैद नहीं है। प्रकृति के कण-कण में, अंग-अंग में रमण करने पर भी जिसे अनंग स्पर्श नहीं कर सकता, वे अलख, अविनाशी, परम तत्त्व ही राम हैं। उनके राम मनुष्य और मनुष्य के बीच किसी भेद-भाव के कारक नहीं हैं। वे तो प्रेम तत्त्व के प्रतीक हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्गुण संत काव्य धारा को निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा नाम दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे निर्गुण भक्ति साहित्य कहते हैं। रामकुमार वर्मा केवल संत-काव्य नाम से संबोधित करते हैं। संत शब्द से आशय उस व्यक्ति से है, जिसने सत परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो। साधारणतः ईश्चर-उन्मुख किसी भी सज्जन को संत कहते हैं, लेकिन वस्तुतः संत वही है, जिसने परम सत्य का साक्षात्कार कर लिया और उस निराकार सत्य में सदैव तल्लीन रहता हो। स्पष्टतः संतों ने धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय ढ़ंग से व्याख्या या परिभाषा नहीं की है। संत पहले संत थे बाद में कवि। उनके मुख से जो शब्द निकले वे सहज काव्य रूप में प्रकट हुए। आज की चर्चा हम इसी संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों (विशेषताओं) को लेकर कर रहें हैं–

निर्गुण ईश्वर – संतों की अनुभूति में ईश्वर निर्गुण, निराकार और विराट है। स्पष्टतः ईश्वर के सगुण रूप का खंडन होता है। कबीर के अनुसार :- दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।। संतों का ईश्वर घट-घट

व्यापी है, जिसके द्वार सभी वर्णों और जातियों के लिए खुले हैं। निर्गुण राम जपहु रे भाई ? अविगत की गति लिखी न जाई।

बहुदेववाद या अवतारवाद का विरोध– संतों ने बहुदेववाद तथा अवतारवाद की धारणा का खंडन किया है। इनकी वाणी में एकेश्वरवाद का संदेश है – अक्षय पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार। त्रिदेवा शाखा भये, पात भया संसार।। वस्तुत: संतों का लक्ष्य सगुण और निर्गुण से परे स्व-सत्ता की अनुभुति है। फिर भी सगुण उपासकों की तरह उन्होंने अपने प्रियतम (परम सत्ता) को राम, कृष्ण, गोविन्द, केशव आदि नामों से पुकारा है।

सद्-गुरु का महत्व–संत कवियों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए सद्-गुरु को सर्वोच्च स्थान पर रखा है। राम की कृपा तभी संभव है, जब गुरु की कृपा होती है। कबीर गुरु को गोविंद से भी महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं :- गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दियो बताय।।

माया से सावधान रहने का उपदेश – सभी संतों की वाणी में माया से सावधान रहने का उपदेश मिलता है। इन्होंने माया का अस्तित्त्व स्वीकार किया है। इनकी दृष्टि में माया के दो रूप हैं – एक सत्य माया, जो ईश्वर प्राप्ति में सहायक हैं, दूसरी मिथ्या-माया जो ईश्वर से विमुख रहती है। उनका कहना था - माया महाठगिनी हम जानी। कबीर माया के संबंध में कहते हैं – कबीर माया मोहिनी, मोहे जाँण-सुजांण। भागां ही छूटे नहीं, भरि-भरि मारै बाण।।

गृहस्थी धर्म में बाधक नहीं – प्राय: सभी संत पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। वे आत्मशुद्धि और व्यक्तिगत साधना पर बल देते थे तथा शुद्ध मानव धर्म के प्रतिपादक थे। इस प्रकार एक ओर सभी संत भक्ति आंदोलन के उन्नायक थे, वहीं दूसरी ओर वे समाज-सुधारक भी थे।

नारी के प्रति दृष्टिकोण – यद्यपि सभी संतों ने वैवाहिक जीवन जीया। लेकिन फिर भी इनके वचनों में नारी को माया का रूप माना गया है। कनक और कामिनी को वे बंधनस्वरूप मानते हैं। कबीर के वचनों में – नारी की झाई परत, अँधा होत भुजंग। कबिरा तिन की कहा गति नित नारी संग।। किंतु पतिव्रता नारी की मुक्त कंठ से प्रशंसा भी करते हैं। पतिव्रता नारी की तरह साधक की भी अपने प्रिय के प्रति अटूट निष्ठा और अन्यों के प्रति विरक्ति होती है।

रहस्यवाद – इन्होंने ईश्वर को पति रूप में और आत्मा को को पत्नी रूप में चित्रित कर अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है, जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। संतों ने प्रणय के संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं को लिया

है। उनके विरह में मीरा के विरह जैसी विरह-वेदना है। कबीर आदि संतों ने विरहिणी आत्मा की विरह-व्यथा की मार्मिक अभिव्यंजना की है।

बाह्य आडम्बरों का विरोध – सभी संत कवियों ने रुढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों और अंध-विश्वासों का घोर विरोध किया है। मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत, रोजा-नमाज, हवन-यज्ञ और पशु-बलि आदि बाह्य कर्मकांडों, आडम्बरों का उन्होंने डटकर विरोध किया है।

जातिपाति के भेद-भाव से मुक्ति – सभी संत कवियों ने मनुष्य को समान माना है और कोई भी भगवत-प्राप्ति कर सकता है। जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई, आदि भावनाएँ इसी विचार की पौषक हैं। इस प्रकार संत साहित्य लोक-कल्याणकारी है।

प्रभाव – सिद्धौ और नाथ-पंथ के हठयोग, शंकर के अद्वैतवाद और सूफी-कवियों की प्रेम साधना का प्रभाव संतों की वाणी में दिखाई पड़ता है।

पंथों का उदय – प्राय: सभी संत निम्न जातियों में पैदा हुए। उनके प्रभाववश उनके पीछे निम्न वर्ण के लोगों ने उनके नाम से पंथ चला लिएय जैसे - कबीर-पंथ, दादू-पंथ आदि।

भजन और नाम स्मरण – संतों की वाणी में नाम स्मरण प्रभु मिलन का सर्वोत्तम मार्ग है।

भाषा-शैली – प्राय: सभी संत अशिक्षित थे। इसलिए बोलचाल की भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। धर्म-प्रचार हेतु वे भ्रमण करते रहते थे। जिस कारण उनकी भाषा में विभिन्न प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग हुआ। इन्हीं कारणों से इनकी भाषा सधुक्कड़ी या बेमेल खिचड़ी हो गई, जिसमें अवधी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, पूर्वी-हिंदी, फारसी, अरबी, संस्कृत, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं का मेल है। साथ ही प्रतीकों और उलटबासियों की शैलियों का प्रयोग बहुतायत हुआ, जिससे भाषा में दुरुहता बढ़ी। संत काव्य मुक्तक रूप में ही अधिक प्राप्त होता है। संतों के शब्द गीतिकाव्य के सभी तत्त्वों- भावात्मकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, वैयक्तिकता आदि से युक्त हैं। उपदेशात्मक पदों में माधुर्य के स्थान पर बौद्धिकता अवश्य है। इन्होंने साखी, दोहा और चौपाई शैली का प्रयोग किया है।

छंद – संतों ने अधिकतर सधुक्कड़ी छंद का प्रयोग किया है। इनमें साखी और सबद प्रमुख हैं। साखी दोहा छंद है, जबकि सबद पदों का वाचक है। संतों के सबद राग-रागिनियों में गाए जा सकते हैं। कबीर ने इनके अलावा रमैनी का भी प्रयोग किया है, जिसमें सात चौपाइयों के बाद एक दोहा आता है। इसके

अतिरिक्त चौपाई, कवित्त, सवैया, सार, वसंत आदि छंदों का भी प्रयोग दिखाई पड़ता है।

अलंकार – संतों की वाणी सहज है। वह कोई साहित्यिक चेष्टा का परिणाम नहीं है। फिर भी उसमें स्वत: अलंकार-योजना हो गई है। उपमा, रूपक संतों के प्रिय अलंकार हैं। इसके अतिरिक्त विशेषोक्ति, विरोधाभास, अनुप्रास, यमक आदि का भी प्रयोग इनकी वाणी में मिल जाता है। उदाहरणार्थ – पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात। देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभात।। (उपमा) नैनन की करि कोठरी पुतली पलंग विछाय। पलकों की चिक डारिकै पिय को लिया रिझाय।। (रूपक)

रस – संत काव्य में भक्तिपरक उक्तियों में मुख्यत: शांत रस का प्रयोग हुआ है। ईश्वर भक्ति एवं संसार-विमुखता का भाव होने के कारण निर्वेद स्थायीभाव है। रहस्यवाद के अंतर्गतशृंगार-रस का चित्रण है, जिसमें संयोग की अपेक्षा वियोग-पक्ष अधिक प्रबल है। विरही को कहीं भी सुख नहीं – कबीर बिछड्या राम सूँ। ना सुख धूप न छाँह। जहां कहीं ईश्वर की विशालता का वर्णन है, वहाँ अद्‌भूत रस है, सुंदरदास ने स्त्री के शरीर का बीभत्स चित्रण किया है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान्द सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है, क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं, ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्राय: प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्‌मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं – मंझन, कुतुबन और उसमान।

प्रेम-मार्गी काव्य की प्रवृत्तियाँ

प्रेम-मार्गी या प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों ने सर्वव्यापक परमात्मा को पाने के लिए प्रेम को साधन माना है। इस शाखा के प्रायः सभी कवि सूफी साधक थे। इसी लिए इसे सूफी साहित्य की संज्ञा भी दी जाती है। सूफी साधना मूल रूप से ईरान की देन है। सूफी शब्द की व्युत्पत्ति सूफ शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है फूस। यह शब्द उन संतों के लिए प्रयुक्त होता था, जो फूस(टाट) से बने वस्त्र पहनते थे और एक तरह से वैरागी का जीवन जीते थे।सूफी परमात्मा को प्रेम का स्वरूप मानते हैं और उसे प्रेम द्वारा पाने की बात कहते हैं। प्रेम की पीर इस साधना का सबसे बड़ा सम्बल है। इन कवियों ने लोक -प्रचलित प्रेमाख्यान चुनकर उन्हें इस प्रकार से काव्य-रूप दिया कि लोग प्रेम के महत्व को पहचाने और प्रभु -प्रेम में लीन हों।

सूफी फकीरों ने हिंदू साधुओं के रहन सहन, रंग-ढंग, भाषा और विचार-शैली को अपना कर अपने हृदय की उदारता का परिचय दिया। अपनी स्नेहसिक्त प्रेममाधुरी युक्त वाणी से भारतीय जीवन की गहराई को छुआ। आतंकित और पीड़ित जनता के घावों को मरहम लगाने का कार्य करके उन्होंने हिंदू-यवन के भेद-भाव को दूर करने में योग दिया।

इस काव्य की अन्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

इस धारा के काव्य फारसी की मसनवी शैली में लिखे गए हैं , जिनमें मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा और गुरु परम्परा का परिचय दिया जाता है। भारतीय शैली की तरह ये सर्गबद्ध या कांडबद्ध नहीं हैं।

इन्होंने अपनी कथाओं का आधार हिंदु जन-जीवन में प्रचलित प्रेम-कहानियों को बनाया। इनमें हिंदु घरों का बहुत ही स्वाभाविक व वास्तविक चित्रण मिलता है।

लौकिक-प्रेम कथाओं द्वारा ही अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति होने के कारण इन कवियों में रहस्यवाद की भावना आ गई है। इनका रहस्यवाद सरस और भावनात्मक है। इन्होंने आत्मा को पुरुष और परमात्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है। साधक के मार्ग की कठिनाइयों को नायक के मार्ग की कठिनाइयों के रूप में चित्रित किया गया है। सूफी शैतान को आत्मा-परमात्मा के मिलन में बाधक समझते हैं और इस शैतान रूपी बाधा को सच्चा गुरु ही दूर कर सकता है। गुरु की सहायता लेकर साधना-मार्ग पर आरुढ़ होकर ईश्वर तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है, आत्मा (बंदा)

उसी का अंश है। वह ईश्वर प्राप्ति में संलग्न रहता है। जब तक वह ईश्वर-मिलन नहीं कर लेता, उसकी विरह-वेदना का मार्मिक चित्रण इन काव्यों में मिलता है।

प्रेम-चित्रण में इन्होंने भारतीय और फारसी दोनों शैलियों को अपनाया। हिंदी काव्यधारा के प्रभाववश उन्हें महाकाव्य पद्धति के अनुसार लिखा गया। पद्मावत में ग्रीष्म-वर्णन, नगर-वर्णन, समुद्र-वर्णन, विरह-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि भारतीय महाकाव्य शैली में लिखे गए हैं। मसनवी काव्य में जिस प्रकार पाँच-सात छंदों के बाद विराम आता है, यहाँ कुछ चौपाइयों के बाद दोहा रखा गया है। मसनवी काव्यों में प्रेमिकाओं द्वारा आध्यात्मिक -प्रेम की व्यंजना होती है, यहाँ भी ऐसा ही हुआ है। इन प्रेम गाथाओं में नायक को नायिका की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया गया है , यह भी फारसी साहित्य का प्रभाव है। साथ ही नागमति तथा पद्मावती जैसी नायिकाओं के प्रेम चित्रण द्वारा भारतीय-पद्धति के प्रति भी आस्था प्रकट की गई है। इस प्रकार सूफी प्रेमाख्यानों में भारतीय तथा ईरानी काव्य-धाराओं का संगम हुआ है।

यद्यपि कवियों का ज्ञान स्वाध्याय द्वारा अर्जित न होकर, सुना-सुनाया अधिक है। तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक सिद्धांतों को स्थूल रूप में ही इन्होंने अपनाया है। इस प्रकार इनके साहित्य में न तो भारतीय-दर्शन के सूक्ष्म सिद्धांतों का प्रवेश हो पाया है और न ही पूरी तरह सूफी-दर्शन के सिद्धांतों का। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने मूलत: सूफी मत को अपनाया। इन्होंने कबीर आदि निर्गुण संतों की भांति खंडन-मंडन की प्रवृत्ति को नहीं अपनाया।

सूफी कवियों का मुख्य केंद्र अवध था। इसलिए अवधी भाषा इनके काव्य की सहज भाषा थी। नूरमुहम्मद ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया। अरबी और फारसी के शब्द भी इनके काव्यों में बहुधा प्रयुक्त होते हैं। जायसी की अवधी में ठेठ और स्वाभाविक अवधी का रूप मिलता है।

इन कवियों को अपनी कथाओं में जहाँ कहीं दिव्य, अलौकिक अनुभुतियों को व्यक्त करने का अवसर मिला, उसको उन्होंने समासोक्ति और अन्योक्ति के माध्यम से पूर्ण किया। इसी कारण अनेक आलोचक इन्हें प्रतीकात्मक काव्य मानते हैं। इनकी अधिकांश रचनाओं में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग मिलता है। इसी पद्धति को बाद में तुलसी ने मानस में स्थान दिया। इन छंदों के अलावा कहीं-कहीं सोरठा, सवैया और बरवै छंद का प्रयोग भी मिलता है। अलंकारों के चुनाव में समासोक्ति और अन्योक्ति के अलावा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों भी आए हैं।

प्रेमाख्यान काव्य-प्रधान शैली में रचे गए हैं और प्रबंध काव्य के निर्वाह को निभाने की कोशिश हुई है।

निर्गुण और सगुण में अंतर

भक्ति की अवधारणा को मुख्य रूप से निर्गुण और सगुण दो वर्गों में बांटा जाता है। निर्गुण और सगुण में अंतर इसका नहीं है कि निर्गुणियों के आराध्य गुणहीन हैं और सगुण मतवादियों के आराध्य गुणसहित। यहाँ निर्गुण का अर्थ गुणरहित न होकर, गुणातीत है। गुण का अर्थ विशेषता से है। वैसा ईश्वर जिसे कुछ निश्चित विशेषणों से परिभाषित या लक्षित किया जा सके, उसे सगुण ईश्वर कहते हैं। निर्गुण मतवादियों के अनुसार ईश्वर में गुणों का वैविध्य व गुणों की पूर्णता इतनी अधिक है कि उसे किसी विशिष्ट गुण से परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। ऐसे ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निरंजन, अलख इत्यादि कहकर संबोधित किया गया है।

4

रीतिकाल

सन् 1700 ई.(1757 विक्रमी संवत) के आस-पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषत: तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए।

राजा-महाराजा और आश्रयदाता अब केवल काव्यों को पढ़ और सुनकर ही संतुष्ट नहीं होते थे, बल्कि अब वह स्वयं काव्य रचना करना चाहते थे। इस समय पर कवियों ने आचार्य का कर्त्तव्य निभाया।

कवि राजाश्रित होते थे, इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्र तो मिलती है, परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिंतामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), कवीन्द्र उदयनाथ (अमेठी), ऋषिनाथ (काशी), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ब्रह्मदत्त (काशी), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा (पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि और अनेक कवि तो राजा ही थे, जैसे- महाराज जसवन्त सिंह (तिर्वा), भगवन्त राय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के जमींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह)।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तसवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है, जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कलाचेतना प्रस्फुटित हुई। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ, जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का शुरूआत केशवदास से न मानकर चिन्तामणि से माना है। उनका कहना है कि - 'केशवदास जी ने काव्य के सब अंगो का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। यह निरूसन्देह है कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल ऑ.केशव ने ही किया। हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया ' के प्राय:पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नहीं। 'वे कहते हैं कि-'हिन्दी रीतिग्रन्थो की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रि.से चली , अत:रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए'।

परिचय

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन

वहाँ उक्तिवैचित्रय समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगारमूलक और कलावैचित्रय से युक्त था, पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए, जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में जो विक्षोभ की स्थितियाँ आई उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं, जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगारकाव्य की है, जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है। शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है, जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है, पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे– भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्यरचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओंवाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्यचित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं, जिन्होंने स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के रमणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर

प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में शृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ, पर धीरे-धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते-आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

इतिहास साक्षी है कि अपने पराभव काल में भी यह युग वैभव विकास का था। मुगल दरबार के हरम में पाँच-पाँच हजार रूपसियाँ रहती थीं। मीना बाजार लगते थे, सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त व्यापार होता था। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- 'वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवाद सम्राट के सभी निषेध प्रयत्न उसमें बह गये। अमीर-उमराव ने उसके निषेध पत्रों को शराब की सुराही में गर्क कर दिया। विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में थे।' पद्माकर ने एक ही छन्द में तत्कालीन दरबारों की रूपरेखा का अंकन कर दिया है-

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन है,
चाँदनी है, चिक है चिरागन की माला है।
कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा है सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला है।
सिसिर के पाला को व्यापत न कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन ऐते उदित मसाला है।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला है, दुसाला है विसाला चित्रसाला है।

ऐहलौकिकता, श्रृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएं हैं। प्रायः सब कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतंत्र कविता कम लिखी गई, रस, अलंकार वगैरह काव्यांगों के लक्षण लिखते समय उदाहरण के रूप में - विशेषकरश्रृंगार के आलंबनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में - सरस रचनाएं इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएं भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाटयशास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का ह्रास होने लगा। इस समय अनेक कवि हुए- केशव, चिंतामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानंद, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

इस काल के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-

(1) रीतिबद्ध कवि।

(2) रीतिमुक्त कवि।

(3) रीतिसिद्ध कवि।

विद्वानों का यह भी मत है कि इस काल के कवियों ने काव्य में मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। घोर श्रृंगारी कविता होने पर भी कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन देखने को नहीं मिलता है।हिन्दी साहित्यक इतिहास के पूर्व मध्यकाल को रीतिकाल संज्ञा दी गई है। और रीतिकाल का समय 1375-1700 से माना गया है। इस काल के काव्य की प्रमुख धारा का विकास कविता की रीति के आधार पर हुआ। रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। साधना के काल भक्तियुग से यह इसी बात में भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधना का समादर न रहा। सजावश्रृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। रीति-काव्य के विकास में तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुत: ये परिस्थितियाँ इस प्रकार के काव्य सर्जन के अनुकूल थीं। हिन्दी के रीतिशास्त्रा का आधार पूर्ण रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी अन्य ग्रन्थ को पूर्णत: हिन्दी में उतारा था।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल में लक्षणग्रन्थोंकी प्रचुरता होने लगी। 'रीति' शब्द का प्रयोग संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति संप्रदाय से जुड़ा है, जहाँ रीति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया, परन्तु हिंदी में इस शब्द का प्रयोग काव्य लेखन की परंपरागत शैली और रुढ़ि के रूप में किया गया।

रीतिकाल का रचनाकाल मुगल सम्राट औरंगजेब के शासन के साथ आरम्भ होता है। औरंगजेब के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया था। इन शासकों में विलासी मनोवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। मुसलमान सम्राटों के समान तत्कालीन सामंतो, नबाबों और हिन्दू राजाओं ने भी ऐश्वर्यमय विलासी जीवन बिताना आरंभ कर दिया था। धार्मिक क्षेत्र में भी संत कवियों का सुधारवादी आन्दोलन शिथिल पड़ गया था। सगुणोपासक भक्त कवियों की धार्मिक भावना में अब श्रृंगारी मनोवृत्ति ने प्रवेश कर लिया था। कृष्ण भक्त कवियों ने राधा और कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं का चित्रण करके अलौकिक प्रेम

की जो धारा बहाई थी, वह धीरे-धीरे लौकिकश्रृंगार में परिणत हो रही थी। भक्तिकाल के कवियों ने लोगों के मन में संसार से विरक्त होने का भाव जागृत करने की अतिशय कोशिश की, जिससे मानव मन कुण्ठित होने लगा। इसी की प्रतिक्रिया स्वरुप भक्ति के साथ-साथ भोग की भावना प्रकट होने लगी, जिससे रीतिकाल मेंश्रृंगार, भक्ति व नीतिपरक काव्य की रचना होने लगी। राधा और कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के रूप में चित्रित कर आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता प्रकट होने लगी। काव्य में रस- निरूपण व अलंकार निरूपण की शुरुआत हो गयी। कवियों ने एक यह एक परिपाटी बना ली कि वे अलंकार या रस का लक्षण देकर उदाहरण रूप में अपनी सरस कविताएँ प्रस्तुत करने लगे। अधिकतर कविताएँश्रृंगार रस की होती थी।

इस काल के नामकरण के विषय में विद्वानों में मतभेद है। शुक्ल जी ने रीति परंपरा को ध्यान में रखते हुए रीतिकाल नाम दिया। डॉ. भागीरथ मिश्र भी लिखते हैं कि इस काल के कवि को रस, अलंकार, नायिका भेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्त प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। यह युग रीति पद्धति का ही युग था। इससे सम्बंधित असंख्य ग्रन्थ लिखे गए।

मिश्रबंधुओं ने इस काल को अलंकृत काल कहा और यह तर्क दिया कि इस युग में कविता को अलंकृत करने की परिपाटी रही है, जबकि वास्तविकता यह है कि इस काल में कवित्त प्रधान काव्य की रचना हुई जिसने आध्यात्मिकता के स्थान पर आत्मानुभूति युक्त लोक जीवन को प्रधानता दी, केवल अलंकृत चमत्कार पर बल नहीं दिया। इस काल के काव्य में अलंकारों के साथ दृसाथ रस पर भी बल दिया गया, इतर काव्यांगो को भी काव्य में उचित स्थान प्राप्त हुआ, इसलिए यह नाम एकांकी सिद्ध होता है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल का नामकरणश्रृंगारकाल किया है। यह नाम इस आधार पर किया गया कि इस काल में काव्य की व्यापक प्रवृत्तिश्रृंगार वर्णन ही थी, मगर यहश्रृंगारिक भावना कवियों की कविता का प्रेरक तत्त्व नहीं थी। वे अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न कर आर्थिक रूप से संपन्न होना चाहते थे। इस काल के कवियों ने मुख्य रूप से काव्यांग निरूपण की परिपाटी को अपनाया था। इसके अतिरिक्त यह तर्क भी दिया जाता है कि इस काल मेंश्रृंगार के साथ-साथ वीर व भक्तिपरक रचनाएँ भी लिखी गई थीं। 'रीति' शब्द मेंश्रृंगार, वीर, भक्ति, काव्यशास्त्र सभी विषय समाहित हो जाते है।श्रृंगार की प्रवृत्ति को भी रीति के अंतर्गत

स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए शृंगारकाल यह नाम अनुपयुक्त सिद्ध होता है।

इस काल के समस्त कवियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है–रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध व रीतिमुक्त। रीति परंपरा का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी में देखा जा सकता है। डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि इस काल को रीतिकाल कहना अधिक वैज्ञानिक और संगत है, क्योंकि इस युग में रीति सम्बन्धी ग्रन्थ ही अधिकांशत: नहीं लिखे गए, अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रन्थ रचने की थी। रीति निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परंपरा के साथ आई थी। इस प्रकार आज लगभग सभी इतिहासकार इस नाम को अधिक उपयुक्त व युक्तिसंगत मानते हैं।

डॉ. भगीरथ मिश्र का कथन है कि इस काल को कलाकाल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है,शृंगार काल कहने से वीर रस और राजप्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्राय: कोई भी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। यह युग रीति पद्धति का युग था। यह धारणा वास्तविक रूप से सही है। आधुनिक काल के नामकरण पर भी विद्वानों में मतभेद है, शुक्ल जी ने पद्य के स्थान पर खड़ी बोली में साहित्य रचना को लक्षित कर इस काल को गद्यकाल कहा है। इस काल में खड़ी बोली गद्य की विविध विधाओं के विकसित होने की दिशा में नवीन विषयों पर साहित्य रचना होने लगीं थी, इसलिए इसे आधुनिक काल कहा गया। डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं–"आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है। पहला- मध्यकाल से भिन्नता। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुन: गद्यात्मक बनाया। दूसरा- इहलौकिक दृष्टिकोण। इस समय धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिकों चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिन्ताधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देंन है, आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है .

रीति शब्द की व्याख्या

'रीति' शब्द संस्कृत के काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्द से भिन्न अर्थ रखने वाला है। संस्कृत साहित्य में रीति को 'काव्य की आत्मा' मानने वाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' में किया था–'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति काव्य की आत्मा है और काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्त की है। वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी, लाटी रीतियाँ हैं। रीति का आधार गुण है। संस्कृत की रीति सम्बन्धी यह धारणा हिन्दी काव्यशास्त्र के कुछ ही ग्रन्थों में ग्रहण की गयी है, परन्तु रीति की काव्य रचना की प्रणाली के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा प्रणाली के अनुसार काव्य रचना करना, रीति का अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकाल का अर्थ हुआ- "ऐसा काव्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका भेद आदि की काव्यशास्त्रीय प्रणालियों के आधार पर रचा गया हो।" इनके लक्षणों के साथ या स्वतंत्र रूप से इनके आधार पर काव्य लिखने की पद्धति ही रीति नाम से विख्यात हुई और यह पद्धति जिस काल में सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नामकरण

रीतिकाल 1700 से 1900 तक का काल है। मोटे तौर पर मुगल बादशाह शाहजहाँ के शासन की समाप्ति और औरंगजेब के शासन के प्रारम्भ (1658 ई.) से लेकर प्रथम स्वाधीनता संग्राम (1857 ई.) तक यह काल माना जाता है। इस युग में भक्तिकालीन काव्यधाराओं, जैसे– सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदि का विकास हुआ, परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्य को प्राप्त हुआ, जो अलंकारों, रसों, नायिका-भेदों, शब्द-शक्तियों, ध्वनि-भेदों आदि के आधार पर लिखा गया। यह प्रतृत्ति इस युग की नवीन चेतना के रूप में जाग्रत हुई। इस कारण इसी के आधार पर यह नामकरण हुआ।

मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में हिंदी साहित्य के इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया–आदि, मध्य और आधुनिक। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मध्य काल को दो भागों में विभक्त किया–'पूर्वमध्यकाल', जिसे भक्तिकाल की संज्ञा दी गई और 'उत्तर मध्यकाल', जिसे रीतिकाल कहा गया। शुक्ल जी ने

आदिकाल का आरम्भ चिंतामणि (संवत 1700)से माना है। कुछ आलोचक इसकी गणना आचार्य केशव से करते हैं, तब रीतिकाल का आरम्भ 50 वर्ष और पीछे चला जाता है। रीतिकाल का नाम आचार्य शुक्ल जी का ही दिया हुआ है। शुक्ल जी ने यह नामकरण इस काल की प्रवृत्तियों और मानव-मनोविज्ञान के आधार पर किया।

संवत 1700 से संवत 1900 तक रीति-पद्धति पर विशेष जोर रहा। इस काल के प्रत्येक कवि ने रीति के साँचे में ढलकर रचना लिखी। डॉ. भगीरथ मिश्र के शब्दों में "उसे रस, अलंकार, नायिकाभेद, ध्वनि आदि के वर्णन के सहारे ही अपनी कवित्व-प्रतिभा दिखाना आवश्यक था। इस युग में उदाहरणों पर विवाद होते थे, इस बात पर कि उसमें कौन कौन-सा अलंकार है? कौन सी शब्द-शक्ति है?काव्यों की टीकाओं और व्याख्याओं में काव्य-सौंदर्य को स्पष्ट करने के लिए भी उसके भीतर अलंकार, रस, नायिकाभेद को भी स्पष्ट किया जाता था। अतः यह युग रीति-पद्धति का युग था।"

आचार्य शुक्ल ने इसे रीति-ग्रंथों की प्रचुरता के कारण ही रीतिकाल का नाम दिया। संस्कृत की तरह हिंदी में 'रीति' का अर्थ विशिष्ट 'पदरचना' नहीं है। रीतिकवि अथवा रीतिग्रंथ में प्रयुक्त रीति शब्द का अर्थ काव्य-शास्त्र से समझना चाहिए। संक्षेप में सभी काव्य-सिद्धांतों के आधार पर काव्यांगों के लक्षण सहित या उनके आधार पर लिखे गए उदाहरणों के आधार पर लिखे गए ग्रंथों को रीतिग्रंथ कहा जाता है।

बाबू श्यामसुंदर दास ने भी हिंदी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में श्रृंगार रस की प्रचुरता एवं रीतिमुक्त कवियों का महत्त्व स्वीकार करते हुए इसका नामकरण रीतिकाल ही उचित समझा।

मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृतकाल' कहा, किंतु उनका अभिप्रायः अलंकार के व्यापक अर्थ से था। उन्होंने मिश्रबंधु विनोद में स्पष्ट किया है कि- 'इस प्रणाली के साथ रीतिग्रंथों का भी प्रचार बढ़ा और आचार्यत्व की भी वृद्धि हुई। आचार्य लोग स्वयं कविता करने की रीति सिखलाते थे। मानो वे संसार से यों कहते हैं कि अमुक-अमुक विषयों के वर्णन में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक अनुपयोगी। 'इतना कहने पर भी मिश्रबंधुओं ने इसे अलंकृतकाल ही कहा है, परंतु अलंकार काल कहने से इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति का बोध नहीं होता। फिर अलंकार से यह भी स्पष्ट नहीं कि इससे ऐसी कविता को समझा जाए, जिसमें अलंकारों की प्रधानता है अथवा अलंकरण पर

अधिक बल दिया गया है। यदि यह सोचा जाए कि इसमें अलंकारों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन है, इसलिए इसका नाम अलंकार युग रखा गया, तो काव्य के अन्य अंगों का क्या ? अतः अलंकृत काल नाम इस युग का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता।

पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसे शृंगारकाल' नाम दिया। उनका मत है कि हिंदी-साहित्य का काल विभाजन करते हुए इतिहासकारों ने रीतिकाल के भीतर कुछ ऐसे कवियों को फुटकल खाते में डाल दिया है, जो रीतिकाल की अधिक व्यापक प्रवृत्ति याशृंगार या प्रेम के उन्मुक्त गायक थे। इसमें आलम, घनानंद, बोधा, ठाकुर के नाम उल्लेखनीय हैं। शुक्ल जी का भी मत है कि यदि केवल रस के आधार पर कोई इस काल का नामकरण करे तो इसे शृंगारकाल कहा जा सकता है।

परंतु प्रश्न तो यह है कि रीतिकाल के कवियों ने क्या शृंगार-रस के ही अंगों का विवेचन किया है? यदि समस्त रीतिकालीन साहित्य को इस दृष्टि से परखा जाए तो शृंगार की प्रधानता तो सर्वत्र है, लेकिन स्वतंत्र रूप से नहीं, सर्वत्र रीति पर आश्रित है। अतः इसे शृंगार काल नहीं कहा जा सकता और भूषण जैसे वीररस के कवि भी रीतिबद्ध कवि थे।

कुछ आलोचक इस काल को 'कलाकाल' कहते हैं। उनके मत में काव्य के कला पक्ष का जितना उत्कर्ष इस काल में हुआ, उतना कभी नहीं हो सका। लेकिन केवलमात्र कला-पक्ष की प्रधानता को देखकर इसको कला-काल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साहित्य में भावपक्ष और कलापक्ष इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। रीतिकाल के कवियों में भावों की उपेक्षा है, ऐसा कहना तो उन कवियों के प्रति अन्याय होगा।

इन सभी नामकरणों की विवेचना के उपरांत यही कहा जा सकता है कि रीतिकालीन सभी कवियों ने रीति-परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया। अतःशृंगार रस की प्रधानता असंदिग्ध होने पर भी इसेशृंगारकाल नहीं कहा जा सकता है और न ही अलंकारों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन होने के कारण इसे अलंकृत काल कहना ही उचित होगा। कलाकाल कहना तो बिल्कुल अनुचित होगा, क्योंकि साहित्य में भावपक्ष के बिना कला का कोई महत्त्व नहीं। अतःरीतिकाल कहना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि रस, अलंकार आदि रीति पर आश्रित होकर आए हैं।

समृद्धि और विलासिता का काल

रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। साधना के काल भक्तियुग से यह इसी बात में भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधना का समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसबदार, सामन्त-सभी का उद्देश्य विलासिता और समृद्धि का जीवन था। इस समृद्धि के जीवन के लिए साधन किसी भी प्रकार के क्यों न हों, समृद्धि का अर्जन ही सामर्थ्य की सार्थकता थी। ये उच्च वर्ग के लोग कला और कविता के संरक्षक थे। कुछ तो स्वयं कवि एवं कलाकार थे। इस प्रकार इस काव्य में ऐहिक जीवन के सुख-भोग पर बल दिया गया। यह जीवन की क्षणभंगुरता को भुलाकर नहीं, वरन् इसलिए कि इस क्षणभंगुर जीवन में जितने ही दिन सुख-भोग के बीत सकें, उतना ही अच्छा।

शृंगारिक साहित्य

शृंगारिक साहित्य वह है, जो पाठक में कामोत्तेजना पैदा करे या पैदा करने के निमित्त लिखी गयी हो। ऐसा साहित्य उपन्यास, लघुकथा, काव्य, सत्यकथा, या 'सेक्स-मैनुअल' के रूप में हो सकते हैं। इसमें कल्पना का सहारा लिया जा सकता है या वास्तविक घटनाओ का। काफी पुरुष एवं महिलाएं इसका प्रयोग हस्त-मैथुन के लिए उत्तेजना बढ़ाने हेतु भी करते हैं।सजावशृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। उपासना के लिए जिन राम और कृष्ण का चरित्र भक्तिकाल में अत्युत्कृष्ट रूप में चित्रित हुआ, उनमें भी शृंगारिकता का आरोप कर शृंगारिक स्वरूप के उद्घाटन में प्रतिभा को लगाया गया। लोकैषणा का सीमित और भोग्य रूप इस काल के यथार्थवादी धरातल का संकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्ति के बीज बोने वाले आधुनिक यथार्थवाद से भिन्न था। वह कला और कारीगरी का यथार्थ है, चिन्तना, ठेस, असन्तोष की चिनगारी बिखेरने वाला यथार्थ नहीं। इस काल की कलात्मक उपलब्धियों में एकरसता है, विविधता नहीं।

5

रीतिकाल की परिस्थितियाँ

इस युग को रीतिकाल इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें काव्य-रीति पर अधिक विचार हुआ है। इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग मेंशृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए।

कवि राजाश्रित होते थे इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही, जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्र तो मिलती है, परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जाता हैं। किसी भी युग के साहित्यिक पर उस युग की परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के विभिन्न काल खण्डों के साहित्य का अध्ययन करते हुए कुछ सवाल बरबस घुमड़ने लगते होंगे। किस तरह प्रारंभ में छोटे स्तर पर प्रवृत्ति- विशेष का उभार दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे वह प्रवृत्ति- विशेष सृजन की धुरी के रूप में स्थापित हो जाती है, फिर कुछ समय तक केन्द्रीय भूमिका में रहने के बाद किनारे हो जाती है। इसी दरम्यान नयी प्रवृत्ति की कोंपल फूट पड़ती है, धीर-धीरे वह विराट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, फिर अंत में जर्जर होकर उपेक्षित हो जाता है। साहित्य का इतिहास सृजन की नयी-नयी प्रवृत्तियों के उभार विकास और अवसान का कालक्रमिक व्यौरा भी होता है।

सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ अपने समाज से अभिन्नता से जुड़ी होती हैं। संवत 1700 से 1900 तक के कालखंड की केन्द्रीय साहित्यिक प्रवृत्ति 'रीति' का भी तद्युगीन समाज से गहरा जुड़ाव था। भक्ति भाव में निहित प्रेम की आध्यात्मिकता, अलौकिकता व वायवीयता एक हद तक विनष्ट हो चुकी थी। प्रेम नितांत इहलौकिक एवं ऐन्द्रिक हो गया था। व्यापर वाणिज्य के विकास, केंद्रीकृत साम्राज्य निर्माण व अपेक्षाकृत शांति के माहौल ने श्रृंगार और अलंकरण की ओर काव्य सृजन को उन्मुख किया। अकबर के नेतृत्व मुगल बादशाह ने सुदृढ़ राजनितिक ढांचा स्थापित कर लिया था। अकबर द्वारा शुरू की गयी मनसबदारी व्यस्था ने समाज में विशेष किस्म का सामंती ढांचा निर्मित किया। बादशाह और उनके मनसबदारों–नबाबों और जमीदारों के रूप में कला, साहित्य का संरक्षक वर्ग अस्तित्त्व में आया। आश्रय पाने वाले कलावन्तो और कवियों ने अपने सृजन में उनकी रुचियों और आवश्कताओं को आधार बना लिया। समाज में व्याप्त घोर वर्ग वैषम्य इस ढंग के साहित्य को फलने- फूलने में मददगार रहा। आम जनता गरीब एवं अशिक्षित थी। उसे अपनी आजीविका अर्जित करने से ही फुर्सत मुश्किल से मिलती थी। अशिक्षा के करण रीत्यात्मकता एवं अलंकरण को उस तरह वे समझ नहीं पाते थे। थोड़ा बहुत- बहुत श्रृंगारिकता का रस ले लेते थे। इसलिए कवि कलाकार भी जी जान से कलावन्तों और रईसों को रिझाने में लगे रहते थे।

सामाजिक परिस्थितियाँ

रीतिकाल के संदर्भ में यदि सामाजिक परिस्थिति की बात करें तो रीतिकालीन समाज में स्तरीकरण की विशेषता विद्यमान रहती थी। समाज में वर्ग, वैषम्य, चरम पर था। समाज स्पष्ट रूप से उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में बटा हुआ था। हालांकि इन वर्गों के अंतर्गत भी कई मध्यवर्ती स्तर मौजूद थे। निम्न वर्ग के लोग उत्पादन एवं सेवा कार्य से जुड़े हुए थे, लेकिन यह वर्ग अपने उत्पादन का उपभोग नहीं कर पाता था। सुव्यवस्थित और कठोर कर-प्रणाली के कारण उत्पादन का बड़ा हिस्सा साम्राज्य के कब्जे में चला जाता था। ऊपर से क्षेत्रीय जागीरदारों एवं जमीदारों का भी परम्परानुमोदित हिस्सा इसमें बनता था। हिन्दू और मुस्लिम समुदाय से पुरोहित वर्ग–पण्डित- मौलवी इसके हिस्सेदार थे। उत्पादन से जुड़े समुदायों के पास इतना कम संसाधन बचता था कि वे मुश्किल से अपना गुजर चला पाते थे। साम्राज्य द्वारा किये जा रहे वृहत कर-वसूली का व्यापक असर राज्य की व्यस्था, सैन्य- क्षमता, नगर- निर्माण और साहित्य व कला के संरक्षण पर देखने को मिलता है।

17वीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था काफी मजबूत हो चुकी थी। वेद विहित वर्ण व्यवस्था जाति-व्यवस्था का अनुलंघनीय स्वरुप अस्वीकृत कर चुकी थी। समय के साथ-साथ नये-नये शिल्पों के विकास से जातियों–उपजातियों की संख्या में खूब बढ़ोतरी हुई, धीरे-धीरे प्रत्येक पेशा अलग जाति से जुड़ गया। सामान्यत: पेशों के वंशानुगत होते जाने के क्रम में पेशेवर- जातियां बनती चली गई। जातियों की संख्या में होने वाली वृद्धि ने भारतीय सामाजिक ढांचे को संकीर्ण बना दिया। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस युग की सामाजिक स्थिति पर टिपण्णी करते हुए लिखते हैं–"सन् ईसवीं की सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दुओं की जाति- पाती की व्यवस्था और भी कसी जाकर सिमट गयी थी। अब वह पुराणी वर्ण- व्यवस्था के आदर्श पर न चलकर पेशेवर जातियों के रूप में ढलने लगी थी। अब वह पुरानी वर्ण- व्यवस्था के आदर्श पर न चलकर पेशेवर जातियों के रूप में ढलने लगी थी। पेशे वंशानुक्रम में चलने लगे, प्रत्येक पेशे के लोग अलग-अलग जातियों के रूप में संगठित होते गए"। संसाधनों के असमान सामाजिक वितरण ने रीतिकालीन साहित्य के स्वरुप पर गंभीर असर डाला। संसाधनों पर स्वामित्व अभिजात वर्ग का था। बादशाह, अमीर- वर्ग, में आते थे। युग प्रचलित शिक्षा ग्रहण करने और रूचि- अनुकूल कला साहित्य को संरक्षण देने का सामर्थ्य व अवकाश इसी वर्ग के पास था। यही वजह है कि रीतिकालीन काव्य का पोषण दरबारों एवं सभा समाज में हुआ। इस युग के कवि कलावंत पूरे मनोयोग से आश्रयदाता की रुचियों और आवश्यकताओं को तुष्ट करने में लगे रहे। आम जनता दरबारी काव्य का आस्वाद पाने में न तो समर्थ थी और न ही इसमें उनकी विशेष रुचि थी। इस स्थिति के बारे में नगेन्द्र का मानना है कि-"निम्न वर्ग न तो इतना संपन्न ही था कि इनकी कृतियों पर पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके।"

रीति काल में लक्षण, निरूपण ग्रन्थ और श्रृंगारिक काव्य सृजन परिपाटी शुरू हुयी, रीतिकालीन सामाजिक ढांचे ने ही इनका पोषण किया। कवि और कलाकार वर्गीय दृष्टिकोण से सामान्य वर्ग या निम्न वर्ग से ही आते थे। राजाओं, नबाबों, के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का इन्हें विशेष अनुभव नहीं होता था। इनकी कलात्मक रुचियों से भी ये नवाकिफ होते थे। इस युग में रचे गए लक्षण ग्रंथों और अलंकार शास्त्र की पुस्तकों ने कवियों–कलाकारों के लिए प्रशिक्षण–सामग्री का काम किया जाता था। इन पुस्तकों का उपयोग राजाओं नबाबों ने भी अपने कला–शिक्षण के लिए किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी इस स्थिति को स्पष्ट करते

हुए लिखते हैं–"इन दो वर्गों के मध्य में कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों आदि कलावन्तों का वर्ग था, जो प्रायः उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था, किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोद करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरंजन इन कवियों और कलावन्तों को करना पड़ता था, उस वर्ग को संतुष्ट करने के लिए जिस प्रकार के जीवन से परिचित होना आवश्यक है, वह इन कवियों को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नहीं था। उसके लिए उन्हें पुस्तकी विद्या की आवश्यकता थी। केशव मतिराम, देव, पद्माकर आदि के लक्षण, ग्रंथों में इस आवश्यकता की पूर्ति सफलता से की।

रीतिकाल में नगरीय जनसंख्या में खूब वृद्धि हुई। व्यापार-वाणिज्य के विकास एवं शांति- व्यवस्था का असर नागर समाज की समृद्धि पर भी हुआ। इस युग में कला व साहित्य पर नागर समाज का वर्चस्व दिखाई पड़ता है। इस युग की कला और साहित्य का आनंद कला- पारखी ही ले सकते थे। कुछ कवियों ने अपनी कविताओं में अज्ञानता और गंवारपन का मजाक भी बनाया है। नागर जीवन विलासमय और वैभवपूर्ण होता था। रीतिकालीन काव्य में इस वैभव विलास की बानगी सहज दृष्टव्य है। इस युग की कविताओं में लोगों का आहार-विहार, रहन-सहन और अभिरुचियाँ भी खुलकर व्यक्त हुयी हैं। धनी लोग बड़े- बड़े महलों में रहते थे। सेवा-टहल के लिए अन्तःपुर में स्त्रियों को संगृहीत करने की परिपाटी थी। महल के साथ-साथ बगीचा, बावड़ी और पुष्प वाटिकाएँ भी लगी होती थी। रीति काल के ऐतिहासिक परिस्थिति पर विचार करते हुए नगेन्द्र ने लिखा है–"नगर के बाहर चित्र–विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे और स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खड़े हुए विहारी और देव जैसे अनेक रसिक 'मणि कुच आँचर बिच माँह' देकर भीगे-पट घर को जाने वाली सुंदरियों की शोभा निरखते होंगे।" इस दौर में भाति-भांति के मनोरंजक खेलों का भी प्रचालन था। अमीर–उमरा और शहजादे तीतर- बटेर लड़ाते थे, पतंगबाजी करते थे और चौपड़ खेलते थे।

राजनैतिक परिस्थितियाँ

राजनीतिक परिस्थिति के संदर्भ में यदि बात करें तो–'रीतिकाल' का ऐतिहासिक समय संवत 1700 से 1900 तक है। यह काल निर्धारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया है। 40-50 साल के लचीलेपन के साथ यह काल निर्धारण आज भी मान्य है। वैसे भी साहित्य के इतिहास लेखन के अंतर्गत

प्रवृत्ति-विवेचन के क्रम में किसी प्रवृत्ति की शुरुआत और अवसान को विल्कुल कालक्रमिक रूप में प्रस्तुत कर पाना नामुमकिन है। इसलिए सामान्य तौर पर 17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के मध्य के काल को 'रीतिकाल' के अंतर्गत निर्धारित करते हैं। वैसे 'भक्त कवियों की रचनाएँ' रीतिकाल में भी और 'रीति' की प्रवृत्ति वाली रचनाएँ आधुनिक काल में भी कुछ समय तक होती रही, विश्वनाथ त्रिपाठी हिंदी साहित्य का सरल इतिहास में 'रीतिकाल का काल निर्धारण' 1700ई. से 1850 ई. तक करते हैं।

पानीपत का दूसरा युद्ध (1526 ई.) दिल्ली पर मुगलों के अधिपत्य के लिहाज से निर्णायक रहा। अकबर जैसे प्रतिभाशाली और सृजनात्मक व्यक्तित्त्व ने आगरा और दिल्ली को केन्द्र बनाकर विशाल मुगल साम्राज्य स्थापित किया। उसकी उदार धार्मिक नीति ने जनता के बीच स्वीकृति और लोकप्रियता हासिल करने में सहायक साबित हुई। राजपूत नीति भी साम्राज्य-विस्तार शांति व्यवस्था के लिए लाभप्रद रहा। उसने मनसबदारी व्यवस्था की शुरुआत कर साम्राज्य के हितों से जुड़ा अमीर- वर्ग तैयार किया। यह अमीर वर्ग लम्बे समय तक मुगल-साम्राज्य को स्थायित्व देने वाला इस्पाती बुनियाद बना रहा। कालांतर में योग्य बादशाहत को नस्तनाबूत करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अकबर ने कर प्रणाली में भी सुधार किया। टोडरमल को प्रगतिशील कर प्रणाली लागू करने की जिम्मेदारी सौपीं। 'आहन-ए-ढहसाला' के अंतर्गत दस साल की उपज और कीमत के औसत के आधार पर कर निर्धारित किया जाता था। इससे कर वसूली में निश्चितता एवं वैज्ञानिकता आई। 'केन्द्रीय साम्राज्य' द्वारा इस ढंग से कर वसूली का सीधा फायदा 'मुगल साम्राज्य' एवं इसे जुड़े हितधारकों को हुआ। साम्राज्य को स्थापत्य, चित्रकला, संगीत, साहित्य और सैन्य अभिग्यानो के जरुरी संसाधन जुटाने में सुमीता हो गया। चूँकि साम्राज्य की सम्पन्नता से ही अमीर- जमींदार वर्ग के हित जुड़े हुए थे। इसलिए ससाधनों की उपलब्धता का लाभ उन्हें भी मिला। साम्राज्य का राजनितिक स्वरुप पिरामिडनुमा था, सबसे ऊपर बादशाह और निचले स्तर पर जनता थी। मध्यवर्ती स्तर पर बड़े-छोटे अमीरों-जमींदारों और राजकर्मचारियों की कई श्रेणियाँ थी। अमीर वर्ग जीवन शैली-पहनावा ओढावा और कलात्मक रुचियों में बादशाह का ही अनुसरण करते थे। इस स्थिति में 'रीतिकाल' के काव्य और कवियों का संरक्षक-वर्ग तैयार किया। यही वजह है कि रीतिकालीन काव्य का बहुलांश दरबार की छाया में ही पोषित हुआ।

काव्यांग- निरूपण और नायिका भेद विवेचन रीतिकालीन काव्य का मुख्य विषय-वस्तु है। तद्युगीन राजनितिक ढांचे की ये बड़ी आवश्यकताए थीं। भक्ति के तेज को सामंती ढाचे थे ग्रस लिया था। शान्ति-व्यवस्था के माहौल ने वीरता के ओज के प्रदर्शन के मौकों को सीमित कर दिया। अमीर वर्ग की सम्पन्नता ने मुक्त विलास की ओर प्रेरित किया। अपने जीवन के अबाध अवकाश के क्षणों को वे रुचि के अनुकूल कला व साहित्य के प्रोत्साहन में लगाने लगे। यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है कि रीतिकाल का हर बड़ा छोटा कवि किसी न किसी अमीर-जमींदार आश्रय से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक कि कुछ राजाओं-नबाबों ने भी युगीन प्रवृत्ति वाली रचनाएँ कीं, केशवदास ओरछा नरेश के भाई इन्द्रजीत सिंह के आश्रय में थे। इन्होंने 'कविप्रिया' की रचना ही आश्रयदाता की गणिका 'रायप्रवीण' को प्रशिक्षण देने के लिए की, देव और मतिराम बूंदी के महाराज भावसिंह के आश्रय में लम्बे समय तक रहे। जसवंत सिंह मारवाड़ के राजा थे। इन्होंने भी युगीन प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए अलंकर पर आचार्यों की शैली में 'भाषा-भूषण' लिखा।

रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की रचना के कई उद्देश्य थे। एक तो ऐसे रचनाकार अपनी काव्यांग- समझ और प्रस्तुतिकरण का लोहा मनवाना चाहते थे। दूसरी बात यह कि इसकी सहायता से वे कवित्व में चमत्कार व अलंकरण की योजना कर लेते थे। इसका तीसरा उद्देश्य था दरबार में अपनी धाक जमाना। इसका उपयोग संरक्षकों व कलावन्तों को जानकारी देने के लिए भी किया जाता था। इस तरह देखा जाये तो रीतिकालीन रचनाकार अपने लक्षण ग्रंथो के मार्फत कई उद्देश्य साध रहे थे। ये रचनाकार मुद्रा तो आचार्यत्व का अपनाये हुए थे लेकिन असल में थे कवि ही, आचार्य शुक्ल लिखते हैं-"इस रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अत: उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषत:शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।" वैसे भी रीति ग्रंथकार का लाभ कवित्व में ही था, क्योंकि वे लक्षण के नाम पर पूर्व- प्रचलित संस्कृत काव्यशास्त्र के चिंतन को ही ब्रजभाषा में प्रस्तुत भर कर रहे थे। उनके लक्षण-निरूपण की सार्थकता स्वयं द्वारा रचे गए उदाहरण देने में ही सिद्ध हो पाती थी।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

सांस्कृतिक परिस्थिति के संदर्भ में यदि रीतिकाल की बात करें तो–रीतिकाल की साहित्यिक-सांस्कृतिक उपलब्धियाँ सामाजिक-संस्कृति के विकास का प्रतिफल है। सामाजिक संस्कृति की नींव सल्तनत काल में पड़ी। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति संवादरत हुयी। मुगल काल में इसका चरम विकास देखने को मिला। अकबर की सृजनात्मकता एवं दूरदर्शिता ने इनका खूब पोषण किया। केंद्रीकृत सुदृढ़ साम्राज्य के संरक्षण में स्थापत्य, चित्रकला, संगीत और साहित्य, सबने अभूतपूर्व उन्नति की। बादशाह की देखा-देखी राजाओं नबाबों ने भी इसे खूब प्रश्रय दिया। दरबारी–संरक्षण का असर आम जनता पर भी पड़ा। आम जनता इन उपलब्धियों से चमत्कृत थी। उनके लिए इस चीजों का विशेष उपयोग न होने के बावजूद उनके बीच स्थापत्य, चित्रकला, संगीत और काव्य आदि का काफी सम्मान था। कवियों और कलावन्तों की राजकीय नजदीकी उनके सामाजिक प्रतिष्ठा का भी निर्धारण करती थी।

हिन्दू -इस्लामी संस्कृति के संवाद का शुरुआती असर स्थापत्य कला पर देखने को मिलता है। भवन-निर्माण की कड़ी शहतीर शैली और भित्ति-मेहराब शैली ने सामंजस्य कायम कर लिया। आगे के निर्माण-कार्य दोनों विशेषताओं से युक्त होने लगे। अकबर ने अगरा का किला, लाहौर का किला और फतेहपुर सीकरी जैसा भव्य और विराट निर्माण कार्य कराया। फतेहपुर सीकरी में निर्मित जामा मस्जिद एवं बुलंद दरवाजा मुगल बादशाह के ओज एवं माधुर्य का प्रमाण है। जहाँगीर ने भी निर्माण कार्य जारी रखा, लेकिन मुगल स्थापत्य को चरम विकास की अवस्था में शाहजहाँ ने पहुँचाया। उसके काल को स्थापत्य कला का सर्वयुग कहते हैं। उसने सार्वजानिक निर्माण कार्यों के प्रबंध के लिए एक अलग विभाग ही बना दिया था। वह इन निर्माण कार्यों में व्यक्तिगत रूप से रुचि लेता था और इसकी निगरानी भी करता था। उसके काल में संगमरमर के कलात्मक उपयोग वाले निर्माण कार्य अस्तित्व में आये। आगरा किले का सबसे सुन्दर भवन, मोती मस्जिद उसने ही बनवाया। उसने दिल्ली में शाहजहाँ नामक एक नगर बसाया। इसमें लाल किला और जामा मस्जिद उसने बनवाई, भारत में निर्मित अभूतपूर्व स्थापत्य ताजमहल शाहजहाँ ने ही बनवाया। शाहजहाँ और ताजमहल के सन्दर्भ में रामकुमार वर्मा की टिपण्णी है–"शाहजहाँ का गंभीर व्यक्तित्त्व राजसिंहासन के दर्पण में प्रतिबिंबित होकर रतिराज की भांति आकर्षक हो गया। उसने मुमताज महल विरह को साकार करने की भावना से जिस ताजमहल का

निर्माण कराया, वह 'समय के कपोल पर अस्तु बिंदु' बन कर अमर हो गया। 18 वर्षों की निरंतर कला साधना के फलस्वरूप ताजमहल किसी अलंकार शास्त्र से कम नहीं था, जिसके प्रत्येक दृष्टि पथ में सौन्दर्य था। "मुगल साम्राज्य की अवनति के दौर में भी निर्माण-कार्य होते रहे। इसके प्रभाव में राजा-महाराजा और नवाबों ने निर्माण करवाए। आमिर वर्ग के जीवन का इन स्थापत्यों से गहरा नाता रहा। इनकी जीवन शैली ने रीतिकालीन काव्य को गहराई से प्रभावित किया।

मुगलों ने चित्रकला को भी खूब प्रोत्साहन दिया। बाबर सुन्दर चित्रकारी का परम प्रशंसक था, लेकिन उसे युद्धों से फुरसत नहीं मिली कि वह चित्रकारी के विकास पर ध्यान दे पाता। हुमायूँ ने अपने ईरान प्रवास के दौरान चित्रकला में गहरी रुचि दिखाई, तैमूरिया खानदान के इतिहास की पुसतक को चित्रित करने के लिए उसने ईरानी चित्रकार मीर सैयद सिराजी और ख्वाजा अब्दुस्समद तबरीजी की मदद ली, बाद में इन चित्रकारों ने अकबर के संरक्षण में चित्रकारी की। अकबर के दरबार में चित्रकारों की पूरी फौज सक्रिय थी। दसवंत और बसावन लोकप्रिय चित्रकार थे। स्थापत्य के विकास में जो योगदान शाहजहाँ का है, चित्रकला के विकास में वहीँ स्थान जहाँगीर का है। मंसूर, आगा रेजा और अबुल हसन आदि जहाँगीर के दरबार के मशहूर चित्रकार थे। मंसूर को पक्षियों की चित्रकारी में महारथ हांसिल थी। इस काल के बादशाह में गरिमामय व्यक्तित्त्व को प्रकट करने के लिए चित्र में प्रभामंडल का भी प्रयोग किया जाने लगा। औरंगजेब के समय में चित्रकला को संरक्षण मिलना बंद हो जाने पर बहुत सारे चित्रकार क्षेत्रीय राजाओं और नबाबों के संरक्षण में चले गए। इससे राजस्थानी चित्रकला, पहाड़ी चित्रकला और पटना कलम आदि की परंपरा लम्बे समय तक विकसित होती रही।

रीतिकालीन काव्य तो इस युग की चित्रकला से प्रभावित हुयी ही, इसने भी चित्रकला को प्रभावित किया। इसने चित्रकारी को नया विषय उपलब्ध करवाया। इस युग में रागमाला चित्रकला का विकास हुआ। राजस्थानी चित्रकला ने रागमाला को अपना आधार बना लिया। इस शैली में शब्दों को रंग और कूची की सहायता से चित्र रूप में उतारा जाता है। इस सन्दर्भ में नगेन्द्र लिखते हैं-"राजस्थानी चित्रकला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओं की मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव में कलाओं की मूल आत्मा एक ही है, अभिव्यक्ति मात्र का अंतर है। गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि, हमारे शास्त्रों में रसों और रागों के देवता और वर्ण

आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रों में कुछ तो उसके सहारे और कुछ अनुकूल ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रंग में चित्रित किया' केशव, देव, बिहारी और मतिराम की रचनाओं को रागमाला में ढाला गया।

इस युग में संगीत-कला को भी दरबारों में खूब संरक्षण मिला। दरबारों में गायकों, वादकों एवं नर्तकों की पूरी टोली मौजूद होती थी। गुणवंत कलाकारों को उदारतापूर्वक अशर्फियाँ एवं जागीर दी जाती थी। अकबर के दरबार में तानसेन एवं बाज बहादुर जैसे मशहूर गायक थे। तानसेन को ध्रुपद गायन में महारत हासिल थी। उन्होंने कुछ रागों का आविष्कार किया था। शाहजहाँ के दरबार में लाल खां, विलास खां और पंडित जगन्नाथ जैसे हस्तियाँ निवास करती थीं, इनके अलावा इस युग में ग्वालियर- दरबार में भी संगीत को भरपूर संरक्षण मिला। दिल्ली दरबार में औरंगजेब के काल में संगीत को संरक्षण मिलना बंद हो गया था। मुहम्मद शाह रंगीला ने पुनः संगीत को महत्व दिया। अदारंग और सदारंग नामक प्रसिद्ध ख्याल गायक मोहम्मद शाह के दरबार में ही थे। आगे भी लखनऊ के नबाबों ने संगीत को प्रश्रय दिया। नबाब वाजिद अली शाह को ठुमरी का आविष्कारक माना जाता है। यह गायन शैली खूब लोकप्रिय हुई, संगीत के विकास और लोकप्रियता के प्रभाव से रीतिकालीन काव्य भी अछूता नहीं रहा। रीतिकालीन काव्य की लयात्मकता पर संगीत का असर आसानी से दिखाई देता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि- "देव, पद्माकर, घनानंद के कवित्त-सवैये लय और यति के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। संगीत में भाषा का उपयोग और भाषा में संगीत का, यह ब्रजभाषा के विकास की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

6

रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

भक्ति औरशृंगार की विभाजक रेखा सूक्ष्म है। भक्ति की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए बहुत बार राधा-कृष्ण के चरित्र एवं दाम्पत्य जीवन के विविध प्रतीकों का सहारा लिया गया, कबीर जैसे बीहड़ कवि भी भाव-विभोर हो कह उठते हैं। "हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया", मर्यादावादी तुलसी भी निकटता को व्यक्त करने के लिए "कामिनि नारि पिआरि जिमि" जैसी उपमा देते हैं, कालांतर में राधा-कृष्ण के चरित्र अपने रूप से हट गए और वे महज दांपत्य जीवन के प्रतीक बन कर रह गए, प्रेम और भक्ति की संपृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गई और प्रेम शृंगारिक रूप में केन्द्र में आ गया। भक्ति काल का रीतिकाल में रूपांतरण की यही प्रक्रिया है।

रीतिकालीन काव्य की मूल प्रेरणा ऐहिक है। भक्तिकाल की ईश्वर-केन्द्रित दृष्टि के सामने इस मानव केन्द्रित दृष्टि की मौलिकता एवं साहसिकता समझ में आती है। आदिकालीन कवि अपने नायक को ईश्वर के जैसा महिमावान अंकित किया था। भक्त कवियों ने ईश्वर की नर लीला का चित्रण किया तो रीतिकालीन कवियों ने ईश्वर एवं मनुष्य दोनों का मनुष्य रूप में चित्रण किया। भक्त कवि तुलसीदास लिखते हैं।

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ
मति अनुरूप राम गुन गाउँ,
परन्तु भिखारीदास का कहना है।

आगे की कवि रीझिहैं तौ कविताई, न तौ
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो हैं।

एक के लिए भक्ति प्रधान है, इस प्रक्रिया में कविता भी बन जाए तो अच्छा है। कवि तो राम का गुण-गान करता है। वहीं दूसरे के लिए कविता की रचना महत्त्वपूर्ण है। यदि कविता न बन सके तो उसे राधा-कृष्ण का स्मरण मान लिया जाए।

सम्पूर्ण रीति साहित्य को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। वास्तव में रीतिबद्ध कवि रीतिसिद्ध भी थे और रीतिसिद्ध कवि रीतिबद्ध भी। इस युग के राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जनकवियों में से कतिपय ऐसे थे, जिन्होंने आत्मप्रदर्शन की भावना या काव्य-रसिक समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान कराने के लिए रीतिग्रंथों का प्रणयन किया, अत: इनकी सबसे प्रमुख विशेषता व प्रवृत्ति रीति-निरूपण की ही थी, इसके साथ ही आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए शृंगारिक रचनाएँ भी की, अत: शृंगारिकता भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। इधर आश्रयदाता राजाओं के दान, पराक्रम आदि को आलंकारिक करने से उन्हें धन-सम्मान मिलता था। वहीं धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएँ करने से आत्म लाभ होता था। इस प्रकार राज-प्रशस्ति एवं भक्ति भी इनकी प्रवृत्तियों के रूप में परिगणित होती है। दूसरी ओर इन कवियों ने अपने कटु-मधुर व्यक्तिगत अनुभवों को भी समय-समय पर नीतिपरक अभिव्यक्ति प्रदान किया। अत: नीति इनकी कविता का अंग कही जा सकती है।

डॉ. नगेन्द्र ने रीति-कवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा है।

क. मुख्य प्रवृत्ति।

ख. गौण प्रवृत्ति।

मुख्य प्रवृत्तियों को दो वर्गों में विभाजित किया है।

1. रीति-निरूपण।
2. शृंगारिकता।

और गौण प्रवृत्तियों को तीन भागों में बांटा है।

1. राजप्रशस्ति या वीर काव्य।
2. भक्ति।
3. नीति।

रीति-निरूपण

रीतिकालीन कवियों के रीति-निरूपण की शैलियों का अध्ययन करने पर तीन दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति-कर्म की है। इनमें वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग-विशेष का परिचय कराना ही कवि का उद्देश्य है, अपने कवित्व का परिचय देना नहीं, ऐसे ग्रंथों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य रचनाकारों के काव्य से दिया गया है या इतना संक्षिप्त है कि कवित्व जैसी कोई बात ही नहीं है। राजा जसवंत सिंह का 'भाषा-भूषण', गोविंद का 'कर्णाभरण', रसिक सुमति का 'अलंकार चंद्रोदय', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथ हैं।

द्वितीय प्रवृत्ति में रीति-कर्म और कवि-कर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अंतर्गत लक्षण एवं उदाहरण दोनों उनके रचयिताओं द्वारा रचित है तथा उदाहरण में सरसता का पुट मिला हुआ है। देव, मतिराम, केशव, पद्माकर, कुलपति, भूषण आदि के ग्रंथ इसी श्रेणी में आते हैं।

तीसरी प्रवृत्ति के अंतर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया है। कवियों ने प्राय: सभी छंदों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों से बद्ध होकर ही किया है, लेकिन लक्षणों को त्याग दिया है। बिहारी, मतिराम आदि की सतसइयाँ, नख-सिख वर्णन संबंधी समस्त ग्रंथ इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर इसकी दो अंत: प्रवृत्तियाँ ठहरती हैं,

1. सर्वांग विवेचन।
2. विशिष्टांग विवेचन।

सर्वांग विवेचन प्रवृत्ति के अंतर्गत आनेवाले ग्रंथों में कवियों ने सामान्यत: काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्यशक्ति, काव्य-रीति, अलंकार, छंद आदि का निरूपण किया है। चिंतामणि का 'कविकुलकल्पत:', देव का 'शब्दरसायन', कुलपति का 'रसरहस्य', भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' आदि इसी प्रवृत्ति के ग्रंथ हैं।

विशिष्टांग विवेचन की प्रवृत्ति के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें किसी एक या दो या तीन का विवेचन किया गया है। ये विषय हैं। रस, छंद और अलंकार. इनमें रस-निरूपण की प्रवृत्ति इन कवियों में सर्वाधिक देखने को मिलती है। शृंगार को रसराज के रूप में निरूपित करने का भाव सर्वाधिक है।

विवेचन-शैली के आधार पर इस काल में रीति-निरूपण की मुख्य तीन शैलियां प्रचलित हैं।

प्रथम 'काव्यप्रकाश'-'साहित्यदर्पण' की शैली है। इसके अंतर्गत चिंतामणि के 'कविकुलकल्पत:', देव का 'शब्दरसायन', भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' आदि को रखा जाता है। इसमें मम्मट-विश्वनाथ द्वारा दी गई संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा गद्य की वृत्ति देकर विषय को समझाया गया है।

दूसरी शैली 'चन्द्रालोक'-'कुवलयानंद' की संक्षिप्त शैली है। जसवंत सिंह की 'भाषाभूषण', गोविंद का 'कर्णाभरण', पद्माकर का 'पद्माभरण', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' आदि इस शैली के ग्रंथ हैं।

तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की है। इसमें लक्षण एवं सरस उदाहरण देकर विषय-निरूपण किया गया है।

शृंगार वर्णन

शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों का प्राण है। एक ओर काव्यशास्त्रीय बंधनों का निर्वाह और दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप ग्रहण किया, उसे दूसरे कवियों की शृंगारिकता से पृथक करके देखा जा सकता है।

शास्त्रीय बंधनों ने इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव पक्ष में नायक-नायिका के भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभवों के विविध रूप, वियोग के भेदोपभेद-सहित विभिन्न कामदशाओं संबंधी रचनाओं के अलग-अलग वर्ग बनाये जा सकते हैं।

दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट एवं आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण ये कवि अपनी कल्पना के पंख इतने फैला सके हैं कि शास्त्रीय घेरे के भीतर निर्माताओं की अभिरूचि एंव दृष्टि की व्यंजना उनकी इस प्रवृत्ति की विशेषता प्रकट हो जाती है। इन कवियों की शृंगार भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की कुंठा न होकर शरीर-सुख की वह साधना है, जिसमें विलास के सभी उपकरणों के संग्रह की ओर व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित होती है। इनके प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने इस प्रकार ले लिया है कि कुंठारहित प्रेम की उन्मुक्तता व रसिकता का रूप धारण कर गई है। यही कारण है कि उनके पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार नहीं होता बल्कि निर्द्वन्द्व होकर भोगने में ही जीवन की सार्थकता समझता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप से कुंठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंती दृष्टिकोण आदि शास्त्रीय बंधनों में बँधकर भी पाठकों को आत्मविभोर कर सकती हैं।

राजप्रशस्ति

यह प्रवृत्ति आश्रयदाताओं की दान-वीरता और युद्धवीरता के वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। इनकी अभिव्यक्ति में सामान्य रूप से दान की सामग्री की प्रचुरता और आश्रयदाताओं के आतंक के प्रभाव के वर्णनों के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती। यह राजाओं की झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है। इनमें उत्साह का अभाव ही रहा है।

भक्ति

भक्ति की प्रवृत्ति ग्रंथों के मंगलाचरणों, ग्रंथों की समाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति एवं शांत रस के उदाहरणों में मिलती है। ये कवि राम-कृष्ण के साथ गणेश, शिव और शक्ति में समान श्रद्धा व्यक्त करते पाये जाते हैं। अत: यह माना जा सकता है कि किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी धार्मिक कट्टरता नहीं थी. वास्तव में इय समय भक्ति धार्मिकता का परिचायक नहीं थी, बल्कि विलास से जर्जर दरबारी वातावरण से बाहर आकुल मन की शरणभूमि थी।

नीति

भक्ति इनके आकुल मन शरणस्थली थी तो नीति-निरूपण दरबारी जीवन के घात-प्रतिघात से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व के विरेचन के लिए शाँति का आधार। यही कारण है कि आत्मोपदेशों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्राय: देखने को मिल जाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गौण-प्रवृत्तियों में राज प्रशस्ति की प्रवृत्ति,श्रृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति एंव नीति ने उससे निवृत्ति की.हिन्दी साहित्य के इतिहास के पूर्व मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल के बाद का समय उत्तरमध्य काल कहलाया। जिसे रीतिकाल संज्ञा दी गई।

शृंगारिकता

शृंगारिकता रीतिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। रीतिकाव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि शृंगार भावना ही इनके काव्य की मुख्य विषय-वस्तु रही है। यही कारण है कि इस युग में शृंगार को रसराज कि संज्ञा दी गई है–

"नवहु रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सबको केशवदास हरि नायक हैं सिंगार।।" (रसिक प्रिया)

यद्यापि रीतिकालीन कवियों ने नायिका भेद, नख-शिख वर्णन, अलंकार व अन्य नव रसों आदि का भी वर्णन किया है, फिर भी प्रमुखता शृंगार-रस को ही मिली है जैसा कि पद्माकर ने स्वयं लिखा है–

"नव रस में शृंगार रस, सिरे कहत सब कोई।
सुस्स नायिका नायकहीं, आलम्बित ह्वै होई।।" (जगक्षिनोद)

वस्तुत: रीतिकालिन कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्यशृंगारिकता ही रही है। यही कारण है कि नगेन्द्र ने लिखा है कि ' साँचा चाहे नायिका भेद का हो चाहे नख-शिख आदि का उसमे ढली है शृंगारिकता ही'। (नगेन्द्र–रीतिकाव्य की भूमिका पृष्ठ-168)

रीतिकालीन कविता का प्रेरणा स्रोत दरबारी संस्कृति थी, पूरा वातावरण राजा से लेकर सामंत तक विलासिता के रंग में रंगा हुआ था। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि काव्य में इसकी अभिव्यक्ति हुई। इसके अंतर्गत रची गयीशृंगारिक भावना में वासना का पुट मिलता है। प्रेम के लौकिक व बाह्य रूप के वर्णन में ही कविता लक्ष्य सीमित हो गया है। रीतिकालीन कवियों में रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर अन्य कवि प्रेम के उच्तर सोपानों की ओर नहीं जा पाए हैं। इसके विपरीत रीतिमुक्त कवियों के प्रेमोद्गार वासना से मुक्त हैं। उनका प्रेम हृदय की सहज वृत्तियों से निर्मित हुआ है। जबकि रीतिकाल के कवि की आँखें नायिका के शारीरिक आकर्षण तक ही सीमित रह गयी हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस कि परिभाषा करते हुए कहा गया है कि–

'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्ति:' (भरत–नाट्यशास्त्र)

अर्थात् विभाव अनुभाव व संचारी भाव के संयोग से रस कि निष्पत्ति होती है, रीतिकालीन कवियों नेशृंगार रस कि अभिव्यंजना करते समय विभाव व अनुभाव को प्रमुख स्थान दिया है। संचारी भावों को उन्होंने अनुभाव में ही

समाहित किया है। जैसा कि कहा जा चुका है कि इनके काव्य में शृंगार रस का क्षेत्र इतन व्यापक था कि काव्य के सभी अंगों पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है।शृंगार संबंधी रचना करते हुए इनके वर्णन के मुख्य विषय विभाव व अनुभाव रहा है विभाव के अंतर्गत नायक नायिका भेद, उनके रूप गुण, स्वभाव हास-परिहास आदि का चित्रृ हुआ है। नायिका का स्वरुप वर्णन इनके काव्य कि प्रमुख विशेषता रही है तभी तो उसकी व्याप्ति लक्षण-ग्रंथों से लेकर बिहारी-सतसई तक रही है।

रीतिकवियों ने राधा कृष्ण को अपना आलंबन बनाकर काव्यरचना की है। इन्हें ही लक्ष्य करके नायक-नायिका भेद का निरुपण किया गया है। नायिका के लक्षण को इंगित करते हुए भिखारीदास कहते हैं–

'सुन्दरता बरननु तरुनि सुमति नायिका सोई।
सोभा कांति सुदीप्ति जुट बरनत हैं सब कोई॥' (काव्य-निर्णय)

अर्थात् नायिका का सौंदर्य यौवन, शोभा, कांति और दीप्ति से संयुक्त होना ही चाहिए।

नायक नायिका भेद निरूपण में कवियों ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दी गई विशेषताओं का थोड़े से भेद के साथ अनुकरण किया है। नायक-नायिका भेद को स्पष्ट करने के लिए देश व काल का उचित ध्यान रखा गया है। इसके साथ ही प्रेम-व्यापार में उद्‌बुद्ध होने वाली विशेष परिस्थितियों की विविध प्रकार से व्यंजना भी की गयी है। कर्म के आधार पर नायिकाओं के तीन भेद किये जाते हैं–स्वकीया, परकीया और सामान्या।

स्वकीया के मुग्धा आदि भेद, परकीया के विदग्धा, लक्षित व सामान्या के भेदों आदि के वर्णन में प्रसंगानुकूल विभिन्न व्यापारों की व्यंजना की है। इन कवियों ने यौवन व प्रेम के हर पक्ष को अपनी हर कविताओं में रेखांकित किया है। उदाहरणार्थ- रूप व गुण पर रीझ जाने वाली मुग्धा नायिका उस (कृष्ण) के मुख की मधुराई पर ही मुग्ध हुए जा रही है–

"मोर पंखा मतिराम किरीट मैं कंठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन कि मुस्कानि मनोहर कुण्डल डोलनी मैं छबि छाई।
लोचन लोल बिलास बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस भाई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगे अँखियान लुनाई॥" (मतिराम सतसई)

स्वकीया, परकीया व सामान्या के भेदों के पश्चात् प्रोषितपतिका, खंडिता, अन्यसंभोग-दु:खिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वधीनपतिका, प्रवत्स्यप्रेयसी तथा अभिसारिका आदि अन्य भेद किये गए हैं। खंडिता नायिका के दु:ख को प्रदर्शित करती पंक्तियाँ बिहारी की काव्य कुशलता को भी अभिव्यंजित करती है–

"कत लपटैयतु मो गरे सोनजुही निसि सैन।
जिहि चम्पक बरनी किए गुल्लाला रंग नैन॥" (बिहारी रत्नाकर)

यहाँ खंडिता नायिका का उल्लेख है। खंडिता नायिका उस नायिका को कहा जाता है, जिसका पति किसी अन्य स्त्री के साथ रात्रि बिताकर घर पहुंचा हो और उसकी स्त्री को उसकी जानकारी हो। ऐसी ही खंडिता का कथन अपने पति से है कि "आपके द्वारा मेरे गले से क्यों लिपटा जा रहा है ? मैं वह नहीं हूँ जो रात्रि को आपके साथ थी और जिस चम्पकवर्णी ने आपको रात भर जगाकर आपके नेत्रों को गुल्लाला के फूल की भांति लाल कर दिया है।"

नायिका भेद का वर्णन करते हुए हम देखते हैं कि इन कवियों की तीव्र आसक्ति रूप वर्णन के प्रति रही है। नायिका के सहज सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिये इन कवियों ने आलंकारिक रूपवर्णन व इन्द्रियोजनित रूपवर्णन आदि की सहायता ली है। कहीं-कहीं रूप के सहज सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है–

"अंग-अंग छवि कि लपट उपटति जाती अछेह॥
खरी पातरीऊ तऊ लगे भरी सी देह॥" (बिहारी रत्नाकर)

तो कहीं रूप व यौवन के प्रति एक तीखी ललक व अमिट प्यास मिलती है। बिहारी ने गदराने व गरकारी शब्दों कि सहयता से नायिका के रूप का एक मादक चित्र प्रस्तुत किया है–

"गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
गोरी गदकारी परे हँसत कपोलन गाड़॥" (बाला-बोधिनी)

नायिका के रूप वर्णन व भेद वर्णन के द्वारा कवियों ने अपनी रुचि व प्रतिभा का परिचय दिया है।

इसी प्रकार नायक के पति, उपपति व वैशिक भेद किये गए हैं। पति के चार भेदों–अनुकूल, दक्षिण, शठ व धृष्ट भेद किये गए हैं। वस्तुत: नायिका भेद की अपेक्षा नायक भेद कम ही मिलते हैं व उनसे सम्बंधित उक्तियाँ भी सीमित ही हैं। ज्यादातर उक्तियाँ पति के भेदों से ही सम्बंधित हैं।

पति के प्रमुख भेद अनुकूल नायक में एकनिष्ठता का गुण विद्यमान होता है। वह अपनी पत्नी के प्रति एकनिष्ठ होता है। वह दोषविहीन होता है और खोजने पर भी नायिका को उसके अंदर किसी अवगुण के दर्शन नहीं होते–

"राती धौंस हौंस रहे माँ न ठिकू ठहराई।
जेतो औगुन ढूंढीसें गुने हाथ परि जाइ॥" (बिहारी-रत्नाकर)

नायक में गुण ही गुण हैं, नायिका को उसका कोई अवगुण ढूंढे से नहीं मिलता। अत: मना करने की साथ उसके मन में ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त दक्षिण नायक अपनी चतुराई के कारण सभी पर समान प्रेम रखता है। शठनायक प्रेम किसी और से करता है, लेकिन ऊपर से अन्य पर भी प्रेम का भाव प्रकट करता है धृष्ट नायक अपने बाहरी सम्बन्ध के कारण भी लज्जा का अनुभव नहीं करता व प्रेम-संबंधी बात के खुल जाने पर भी धृष्टता दिखाता है।

इन सभी भेदों के माध्यम नायक के हाव-भाव, प्रेम वशृंगार आदि का चित्रण किया गया है।

आलंबन के पश्चात् विभाव का दूसरा पक्ष उद्दीपन आता है। इसके अंतर्गत एक तरफ तो प्रकृति का रम्य वातावरण आता है। तो दूसरी तरफ नायक नायिकाओं की हाव-भाव आदि चेष्टाएँ, नायिका की दूतियों की उक्तियाँ आदि का सन्निवेश होता है। उद्दीपन का कार्य नायक नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त करना होता है। प्रेम की मादकता को बढ़ाने के लिए रीतिकालीन कवियों ने ऋतुवर्णन से लेकर प्रकृति के सौंदर्य को अभी व्यक्त करने वाले उपादानों का सहारा लिया है।

"भौरन को गुंजन बिहार बन कुंजन में, मंजुल मलारन को गवनो लागत है।
कहै पद्माकर गूमान हू ते मान हू ते, प्रान हु ते प्यारे मनभावनो लगत है।" (जगहिनोद)

इन ऋतुवर्णनों ने जहाँ उद्दीपन का कार्य किया है, वहीं भाव, सौंदर्य व आनंद उल्लास के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। बिहारी, देव, पद्माकर आदि कवियों ने बसंत ऋतु में आने वाले त्यौहार फाग को अधिक महत्व दिया है। होली का त्योहार प्रेम का त्योहार है, आपसी हँसी मजाक का त्योहार है। इन कवियों के फाग की विशेषता ही घरेलू फाग के मधुर व आकर्षक चित्रों को अभिव्यक्त करना है। 'नैन नचाये कहीं मुसुक्याइ लला फिर इयो खेलन होरी' पंक्ति में गोपियों की सुंदर छेड़-छाड़ का वर्णन पद्माकर करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेम

कि मादकता को बढ़ाने में भी फाग का अत्यंत महत्व है पद्माकर प्रेम पूरित फाग का एक मनोरम चित्र खीचते हैं–

"जैसी की तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरी रंग में बोरी।
गोरिन के रंग भीजिगो साँउरो साँउरो के रंग भीजिगो गोरी।"
(जगहिनोद)

इस प्रकार शृंगार रस के उद्दीपन रूप में छह ऋतुओं और बारह महीनों के हृदयग्राही वर्णन रीतिकालीन काव्य में हुए हैं। इसके साथ ही प्रकृति के अन्य रूपों का भी चित्रण रीतिकालीन काव्य में हुआ है। संयोग में प्रकृति सदैव हृदय को उल्लासित करने का कार्य करती है, पर वहीं प्रकृति वियोग में दग्ध करने वाली है। वही पद्माकर जो वर्षा ऋतु में सावन के हिंडोले डाले गीत गुनगुना रहे थे, प्रिय के वियोग में विरह दग्ध नायिका कि स्थिति का वर्णन करते हैं। वर्षा ऋतु वियोगिनी को जला रही है, पद्माकर कहते हैं कि–

"आई ऋतु पावस, न आये प्रान प्यारे पातें
मेघन बरजि आली ! गरजिन लावे ना।" (जगहिनोद)

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्दीपन रूप में वर्णित प्रकृति संयोग व वियोग दोनों स्थितियों में हमारे भावों को उद्दीप्त करने का कार्य करती है, इसके अतिरिक्त नायिका सौन्दर्य, उसकी साज-सज्जा वस्त्राभूषण आदि भी नायक के मनोभावों को उद्दीप्त करने का कार्य करते हैं। साथ ही नायिका की सखियों अथवा दुतियों या फिर नायक के सहायकों द्वारा हास-परिहास में कही गई उक्तियाँ भी शृंगार रस को उद्दीप्त करने व प्रेम कि मादकता को बढ़ने का कार्य करती है।

विभाव के पश्चात् रस का दूसरा वर्णनीय अंग अनुभाव आता है। आलंबन कि चेष्टाएँ उद्दीपन के अंतर्गत आती है और आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव के अंतर्गत आती हैं। मुख्य रूप से अनुभावों के 4 भेद किये जाते हैं–

1. कायिक।
2. वाचिक।
3. आहार्य।
4. सात्विक।

इन सारे भेदों का अध्ययन करते हुए स्पष्टत: पता चलता है कि रीतिकालीन कवियों ने लिखा तो सभी भेदों पर है उनकी प्रवृति सात्विक भाव पर ज्यादा रमी है। आचार्यों ने सात्विक अनुभाव की परिभाषा इस प्रकार की

है–'सत्वगुण से उत्पन्न होने वाले नैसर्गिक अंग विकार को सात्विक अनुभव कहते हैं'। (रस वाटिका, पं गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, पृष्ठ 12) सात्विक भावों का जन्म प्राय: प्रिय के दर्शन, श्रवण व स्पर्श से होता है। यह सात्विक भाव प्रेम की मादक अनुभूति को बढ़ाने का कार्य करता है। रीतिकालीन कवियों ने मादक प्रेम का चित्रण करने कहीं भी किसी प्रकार की छूट नहीं ली है। यह कवि अनुभावों के द्वारा मानस के सूक्ष्म भावों को संतुलित तथा प्रभविष्णु बनाने का प्रयास करते रहे हैं। रीतिसिद्ध कवि बिहारी अनुभवों की व्यंजना करने में सिद्धहस्त थे। उनको अनुभाव विषयक उक्तियों में भाव अलंकृति तक सीमित नहीं है, बल्कि उनमे भावों का सहज सम्प्रेषण भी हुआ है।

आचार्य शुक्ल ने लिखा है–"बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति कौशल के दर्शन होते हैं पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई श्रृंगारी कवि नहीं कर सका है। "(हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ 969) बिहारी के दोहों में सात्विक अनुभावों की योजना उनकी गंभीर संवेदना व अनुभूति का ही परिणाम है। स्पर्शजन्य सात्विक अनुभाव की एक सुन्दर उक्ति प्रसिद्ध है–

"स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरू नाथ।
दियौ हियौ संग हाथ कै हथलेवे ही हाथ॥" (बिहारी रत्नाकर)

अर्थात् स्वेद रुपी जल व रोमांच रुपी कुश लेकर वर-वधु दोनों ने पाणि-ग्रहण के समय अपने हाथ के साथ ही दूसरे हाथ से अपना]दय भी संकल्प कर दिया। इस छंद में श्रृंगार रस की पूर्ण योजना के साथ ही ग्राहस्तिक प्रेम का एक सुन्दर चित्र उपस्थित होता है। अनुभवों की इस योजना के माध्यम से हृदय की अनुभूति का दर्शन तो होता ही है साथ में कवि कि कुशलता का भी परिचय प्राप्त होता है।

श्रृंगार कालीन काव्य में हमें श्रृंगार के दोनों पक्ष सम्भोग और विप्रलंभ श्रृंगार का निरूपण मिलता है। रीतिसिद्ध बिहारी में सम्भोग का पक्ष प्रधान है तो रीति मुक्त घनानंद में वियोग को उत्कृष्टता प्रदान की है। वस्तुत: संयोग श्रृंगार नायक व नायिका के मानसिक व शारीरिक नैकष्टय को व्याख्यायित करते हैं अर्थात् नायक व नायिका जिस मिलन से प्रसन्न होते हैं, उन्हें उसे संयोग श्रृंगार कहा जाता है–

"प्रमुदित नायक-नायिका जिन्ही मिलाप मैं होत।
सो संयोग-सिंगार कहीं बरनत सुमति उदोत।।"

संयोगश्रृंगार में हास-परिहास, मिलन आदि के द्वारा प्रेम को अभिव्यक्त किया जाता है। वास्तव में श्रृंगार रस के अंतर्गत मिलन की स्थिति को अत्यंत समधुर व आकर्षक मानी गयी है। यही कारण है कि कवियों ने इसके अंतर्गत रूप आकर्षण, विनोद, हास-परिहास आदि प्रेम मूलक प्रसंगों की अवतरणा की है मिलन के क्षण में होने वाला हास परिहास प्रेम को प्रौढ़ता प्रदान करता है। वह प्रेम कि मादकता को बढ़ाने का कार्य भी करता है। हास परिहास में बातों की वक्रता जिस माधुर्य को रचती है, उससे प्रेमी हृदय की किसी गूढ़ भाव की अभिव्यंजना होती है। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा इसी हास परिहास का सुन्दर उदाहरण है–

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनु हंसै दैन कहै नटी जाए।।" (बिहारी रत्नाकर)

कृष्ण को छेड़ने के लिए राधा ने उसकी बंशी छुपा दी है। कृष्ण के द्वारा मांगे जाने पर वह बार-बार कसम खा कर मना कर देती है। राधा कृष्ण के मध्य की यह चपलता प्रेम के आनंद को द्विगुणित कर देती है, इसी प्रकार मतिराम कि नायिका कृष्णा के छैला रूप को उलाहना देती हुई कहती है कि–

"ऐसी करौ करतूती बलाय त्यों नीकी बड़ाई लहौं जग जातैं।
आई नई तरुनाई तिहरी ही ऐसे छके चितवौ दिन रातैं।।
लीजिये दान, हौं दीजिय दान जान, तिहारी सबैं हम जानहि घाटै।
जानौं हमैं जनि वै बनिता जिनसौं तुम ऐसी करी बलि बातै।। (मतिराम सतसई)

अर्थात् तुम्हारी (कृष्ण) करतूत का क्या कहना ! मैं बलि जाती हूँ ! उससे तुम्हे जग में कितनी बड़ाई मिलती है। दिन रात इस तरह देखते हो मानो तुम्हारे ऊपर ही नयी तरुणाई आई है वही सही, अच्छा अपना दान (दही, मक्खन) लो और हमे हमारी राह जाने दो हमें आपके सारे दाँव पेंच पता है। हमें ब्रज की वह सुकुमार वनिताओं में मत समझों, जिनसे तुम घातपूर्ण बातें कर अपने प्रेम जाल में फँसा लेते हो। नायिका की यह वक्रतापूर्ण वाणी प्रेम के माधुर्य को और भी बढ़ा रही है। हास-परिहास के अतिरिक्त प्रेम के संयोग वश के अन्य सोपानों का भी वर्णन रीतिकालीन कवियों ने जी भर के किया है। इन कवियों ने प्रेम के रति वर्णन, विपरीत रति वर्णन, सुरती आदि प्रसंगों का खुलकर चित्रण किया है। कहीं-कहीं यह चित्रण अश्लीलता की सीमा को भी पार कर गया है।

रीतिबद्ध कवियों ने विप्रलंभ (वियोग)शृंगार का भी वर्णन किया है, परन्तु यह वर्णन अनुभूति जन्य न होकर चमत्कार प्रदर्शन मात्र रह गया है। इन विरह वर्णनों में उहात्मकता का आधिक्य है, जिस से स्वाभाविकता नष्ट हो गयी है। कहीं-कहीं स्वाभाविक विरह की भी व्यंजना है पर अधिक संख्या अतिश्योक्तिमूलक विरह उक्तियों की ही है बिहारी की नायिका विरह में इतनी कृषकाय हो गयी है कि अपनी सांसों के भार से ही छः सात हाथ इधर-उधर डोल जाती है। -

"इत आवति चलि जात उत चली छः सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन हाथ॥"

इसके विपरीत रीतिमुक्त स्वछन्द कवियों ने हृदय की व्याकुलता व वेदना की गहनता का मार्मिक व अनुभूतिपरक चित्रण किया है। इनकी उक्तियाँ मात्र कविता नहीं थी, बल्कि उनके प्रेमी हृदय कि भावनाओं का सच्चा उद्‌गार थी।

"यह कैसों संजोग न बुझी परैं जू वियोग न क्यों हु विछोहत है"-
(घनानंद कवित्त)

इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों की वियोग भावना में अत्यधिक मार्मिकता है। जहाँ कहीं संयोग शृंगार के चित्र मिलते हैं। वह आनंद में वृद्धि करने वाले ही हैं।

इसके अतिरिक्त वियोग शृंगार के वर्णन में रीतिकालीन कवियों ने नायक-नायिका के पार्थक्य को अभिव्यक्त करने वाली हर दशा का वर्णन किया है। काम की नौ दशाओं–अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता आदि का भी चित्रण मिलता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शृंगार इस काल की केंद्रीय प्रवृत्ति है। इसमें पायी जाने वाली स्पष्टता व खुलापन तत्कालीन समय के सामंती परिवेश की उपज है। रीतिमुक्त कवियों के यहाँ पायी जाने वाली उच्च दृष्टि का जो अभाव रीतिबद्ध कवियों की शृंगारिकता में पाया जाता है, वह दरबारी परिवेश का नतीजा है। प्रेमजन्य विलासिता, शारीरिक सुख की अदम्य इच्छा व भोग की कामना आदि विशेषताएँ तत्कालीन समय व समाज की ही देन है।

प्रेम

रीतिकाल में रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर अन्य कवियों द्वारा वर्णित प्रेम परोक्षतःशृंगार ही है। रीतिकालीन कवियों के प्रेम का लक्ष्य नायक-नायिका की रूप-लिप्सा तृप्ति मात्र है। वहाँ प्रेम के सामाजिक व उदात्त रूप की प्रतिष्ठा नहीं

मिलती, सौंदर्य वर्णन, प्रेम-उन्माद, प्रेम-लिप्सा आदिशृंगारिक भावना के ही रूप हैं। इन कवियों में सर्वत्र प्रेम के उन्माद का ही दर्शन होता है।

वस्तुत: रीतिबद्ध कवियों ने काव्य में वर्णित भाव को उतनी प्रमुखता नहीं दी, जितनी वस्तु-व्यंजना को। इसी प्रवृत्ति के कारण रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि नायिका के बाह्य शारीरिक आकर्षण तक ही सीमित रह गई। वह प्रेम की उस गहराई तक पहुँच ही नहीं पाई, जहाँ तक रीतिमुक्त कवियों की,शृंगारिकता रीतिमुक्त कवियों के यहाँ भी है, पर उसमें पाई जाने वाली उत्कृष्टता का अभाव रीतिबद्ध कवियों के यहाँ है। रीतिबद्ध कवियों की प्रेम-अभिव्यंजना विलासिता व रसिकता से भरी हुई थी। चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण वह और भी दुरूह हो चुकी थी। उसकी वह स्वाभाविकता खत्म हो गई थी, जो प्रेम व शृंगार के माधुर्य भाव के लिए आवश्यक होती है।

प्रेम के लौकिक रूप का आलंबन मनुष्य होता है। लौकिक प्रेम वहाँ होता है, जहाँ कवि किसी व्यक्ति को अपने भाव का आलंबन बनाकर अपने भावों को अभिव्यक्त करता है। यह प्रेम विभिन्न नायक-नायिकाओं के माध्यम से वर्णित होता है। रीतिबद्ध कवियों के यहाँ भी प्रेम वर्णित है। यह प्रेम अधिकतर राधा-कृष्ण या गोपी-गोपिकाओं आदि के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। रीतिबद्ध कवियों ने अपने प्रेम निरूपण के लिए राधा-कृष्ण को आलंबन बनाया है। भगवान की उपासना में शृंगारिकता का समावेश हो गया और कवियों ने राधा व कृष्ण को सुमिरन का बहाना बना दिया।

"आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई।
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है॥"

परिणामत: राधा व कृष्ण, नायक-नायिका बन कर रह गए-

"इन्होनें उन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र से खींचकर भौतिकता की भूमि पर ही नहीं ला पटका, अपितु सामान्य नायक-नायिकाओं का रूप देकर उनकी बड़ी दुर्गति की तथा उनकी विपरीत रति का चित्र खींचने में भी इन्होनें अपनी कला का गौरव ही समझा।"(डॉ.इन्द्रपाल सिंह, हिंदी साहित्य चिंतन, पृष्ठ-85.)

रीतिकाल में भक्तिकालीन भक्तिभावनाशृंगार प्रेम में परिणत हो गई थी और कृष्ण व राधा साधारण नायक-नायिका के रूप में अभिव्यक्त किये जा रहे थे। कृष्ण व राधा की स्वच्छंद लीलाओं की रीतिबद्ध कवियों ने शृंगारी चित्रण किया, वही रीतिमुक्त कवियों ने उन्हें प्रेमाभिव्यंजना का आधार बनाया।

रीतिबद्ध कवियों ने राधा-कृष्ण के प्रेम-व्यापार को लौकिक अनुभूति के स्तर पर ही चित्रित किया है। आचार्य देव के कृष्ण व राधिका, कुंजवन में क्रीडार्थ प्रस्तुत हुए हैं, जहाँ वह दोनों एक-दूसरे के शृंगार-प्रसाधन का ही वर्णन करते रह जाते हैं। राधा-कृष्ण की सुंदर पगड़ी की सराहना करती है, तो कृष्ण उनकी सुंदर साड़ी की प्रशंसा करते हैं–

"आपुस में रस में रहसें-विहसें बनि राधिका कुंजबिहारी।
श्यामा सराहति श्याम की पागहिं श्याम सराहत श्यामा की सारी॥
एकहि दर्पन देखि कहैं तिय नीके लगो पिय प्यौ कहैं प्यारी।
'देव' सुबालम बाल को बाद विलोकि भई बलि में बलिहारी॥" (रस विलास)

ऐसा नहीं था कि रीतिबद्ध कवियों में प्रेम की अनुभूति ही नहीं थी, बस प्रेम का वह सहज रूप नहीं था, जो रीतिमुक्त कवियों के यहाँ उपलब्ध था। आडम्बरप्रियता व विलासिता के आवरण ने प्रेम के स्वाभाविक रूप को ग्रस लिया था।

रीतिमुक्त कवि प्रेम के स्वच्छंद गायक थे। इन्होनें रीतिबद्ध कवियों की भांति प्रेम के माँसल पक्ष का वर्णन नहीं किया, बल्कि प्रेम के अन्त:भावों को अभिव्यक्ति दी, इनके लिए प्रेम ही सब कुछ था। उसमें भी वियोग का विशेष महत्व्व है।

एक तरफ तो रीतिबद्ध कवि राधा-कृष्ण के नायक-नायिका रूप का चित्रण कर रहे थे, वहीँ घनानंद जगत के प्रेम के सम्बन्ध में राधा-कृष्ण के प्रेम की चर्चा करते हैं–

"प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार
बापुरो हहरि वार हीं तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोउ
नेही हरि-राधा जिन्हें देखैं सरसायो हैं।
ताकी कोऊ तरल तरंग संग छूट्यो कन,
पूरी लोक लोकनि उमगि उफनायो है।
सोई घनआनंद सुजान लगि हेत होत
ऐसे मथि मन पै स्वरुप ठहरायो है॥ (घनानंद ग्रंथावली)

प्रेम का महोदधि ऐसा अपार है कि उसका पार पाना तो दूर विचार भी इसी तट से लौट आता है। ज्ञान या बुद्धि के द्वारा इस महासागर को पार करना कठिन

है। इस प्रेम सागर में प्रेम के रस से एकरस हो कृष्ण व राधा विचरण करते हैं। प्रेम का यह समुद्र उन्हें देखकर उसी प्रकार आगे बढ़ता है, जिस प्रकार चन्द्र को देखकर सागर में तरंगें आती हैं अर्थात् ज्वार आता है। उस प्रेमसागर की तरंग का एक-एक कण इतना विशाल है कि अनेक लोकों में जो प्रेम छाया है, वह उसके कण मात्र से कम है। वह कण इतना विशाल है कि सारे लोक में प्रेम को पूरित करने पर भी उफनता रहता है। जगत के जितने प्रेम हैं, वह उसी के अंग हैं। घनआनंद कहते हैं कि घनानंद व सुजान का प्रेम उसी कण के स्पर्श से संभव हुआ है। इस उक्ति से परिलक्षित होता है कि इनके प्रेम में एकांतिकता का अभाव व समाजोन्मुखता है। कहीं-कहीं जो एकान्तिक भाव पाया जाता है, वह अपने प्रेमी में लीन होने की साधना है।

रीतिबद्ध कवियों के संयोगश्रृंगार के वर्णन में प्रेम का पूरा व्यापार है। आलंबन उद्दीपन की योजना है, सखी-दूतियों द्वारा अभिव्यक्त पूरा आयोजन है। मतिराम के एक छंद में गौने को जाती नायिका की सखि उसका श्रृंगार कर रही है।श्रृंगार करते समय हास-परिहास भी चल रहा है। बिछुआ पहनाते हुए एक सखि ने गूढ़ परिहास करते हुए कहा कि यह बिछुआ प्रियतम के कानों के पास सर्वदा बजता रहे। यह सुनकर नायिका ने अपनी सखी पर कर कमल चलाने के लिए हाथ उठाया तो परन्तु लज्जावश वह ऐसा कर न सकी, यहाँ प्रेम का सारा व्यापार अत्यंत मुखर है, परन्तु रीतिमुक्त कवियों के यहाँ ऐसा नहीं है, यहाँ प्रेम एक आंतरिक भाव है। यह आत्मा की पुकार है। यह मौन की मधि पुकार है—क्योंकि इसमें "जो कुछ भी हलचल है वह भीतर की है, बाहर से यह वियोग प्रशांत व गंभीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछलकर भागना है। उनकी मौनमधि पुकार' है। (रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-233.)

घनानंद के शब्दों में प्रेम 'बिरही विचारन की मौन में पुकार है'. इस प्रेम की पुकार को केवल हरि ही सुन सकते हैं, इसकी वेदना को केवल हरि ही जान सकते हैं—

"पहिचानै हरि कौन
मोसे अनपहिचान कौं।
त्यों पुकार मधि-मौन
कृपा-कान मधि नैन ज्यों।"
(घनानंद और स्वछन्द काव्यधारा)

रीतिमुक्त कवि के लिए प्रेम ही सर्वस्व है। उससे बढ़कर किसी और वस्तु की उन्हें चाह नहीं है। इन कवियों ने प्रेम के पंथ को दुरूह बताया है 'प्रेम को पंथ कराल महा, तरवार की धार पर धावनों है', परन्तु कष्ट के डर से वह इसको त्याग नहीं सकते। उनके लिए प्रेम का निर्वाह ही मुख्य चीज है। बोधा इस बात को यों कहते हैं–

"प्रीति करै पुनि और निबाहै। सौ आशिक सब जगत सराहै॥
एक सुजान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को॥" (विरह वारिस)

प्रेम का निर्वाह लम्बे समय तक तभी संभव है, जब वह नैसर्गिक हो, उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता ना हो। रीतिबद्ध कवियों का प्रेम निरूपण अपनी अस्थाई प्रभाव नहीं छोड़ता इसका मुख्य कारण उसमें व्याप्त आडम्बर व चमत्कारप्रियता की प्रवृत्ति है। रीतिमुक्त कवियों का प्रेम स्वच्छंद है, उसका चित्रण भी किसी बंधी–बंधाई परिपाटी पर ना होकर नैसर्गिक है, स्वत:स्फूर्त है। इसीलिए प्रीति की रीति विषम होते हुए भी रोम–रोम में व्याप्त है–

"चाहौ अनचाहौ जान प्यारै पै आनंद घन
प्रीति–रीति विषम सु रोम–रोम रमी है।
मोहि तुम एक तुम्हें मो सैम अनेक आहि
कहा कछु चन्दहि चकोरन की कमी है॥" (हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास (सप्तम) पृष्ठ–82)

रीतिबद्ध कवियों को प्रेम प्रदर्शित करने का अवकाश था। वह अपने नायक नायिका को भरे भवन में भी नैनों से बात करवा सकते हैं–

कहत, नटत, रीझत, खीझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैनन हीं सों बात॥ (बिहारी रत्नाकर)

रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम के प्रदर्शन को कोई स्थान नहीं दिया, उनका प्रेम हृदय की पुकार है, एक अनोखी पीर है, जिसको कोई इन्द्रियों के माध्यम से पा नहीं सकता।

"लिखौं कैसे पियारे प्रेम पाती, लगी अंसुँअन झरी है टूक छाती।
अनोखी पीर प्यारे कौन पावै, पुकारौ मौन मैं कहिबों न आवै॥"
(घनानद कवित्त)

जैसा कि कहा जा चुका है कि रीतिमुक्त कवि अन्य कवियों की भांति प्रेम की किसी सुनिश्चित परिपाटी पर नहीं चले। लक्षण–ग्रंथों या मुक्तक काव्य

में प्राप्त शृंगारिक प्रेम से इनका मिजाज बिल्कुल अलग था। देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियों के यहाँ प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। रीतिमुक्त कवियों के यहाँ प्रेम उनके अपने जीवन से उपजा था। इसीलिए सहज, सरल व स्वाभाविक था। वहाँ कपट अथवा चतुराई के लिए तनिक भी स्थान नहीं था–

"अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
जहाँ साँच चलै तजि आपनपो झिझकै कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनंद प्यारे सुजान सुनो यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन। ों पाटी पढे हो लला मन लेहु पै देहूँ छटाँक नहीं॥"
(भागीरथ मिश्र, हिंदी रीति साहित्य, पृष्ठ-199)

इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों का प्रेम बुद्धिजन्य नहीं बल्कि हृदय से निःसृत है। उसमें हृदयपक्ष की प्रधानता है। इसलिए अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

सौंदर्य–

सौंदर्य के अखंड व सत्य स्वरुप का निरूपण करते हुए संस्कृत के महाकवि माघ ने अपने महाकाव्य "शिशुपाल वध" में लिखा है कि जो क्षण-क्षण नवीनता को प्राप्त करे वही रूप रमणीय है–

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः। (शिशुपाल वध)

वस्तुतः आकर्षण सौंदर्य का मुख्य उपादान है। यह आकर्षण बाह्य न होकर आतंरिक भी होता है। प्रथमतः व्यक्ति की शारीरिक सुन्दरता व कान्ति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु आगे चलकर मन की सुन्दरता का भी समावेश शारीरिक सौंदर्य से हो जाता है। इसीलिए सौंदर्य सदैव परिवर्तित होता रहता है। रीतिसिद्ध कवि बिहारी भी मानते हैं कि–

लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गुरुर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥ (बिहारी रत्नाकर)

अर्थात् नायिका का रूप सौंदर्य इतना नवीन और अद्भुत है कि वह एक जैसा रह ही नहीं पाता है। वास्तव में वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। अतः जब-जब चित्रकार उसका चित्र बनाना चाहता है तो एक मुद्रा और उससे संबंधित सौंदर्य उसके मानस-पटल में उठता है, किन्तु जैसे ही वह उसे बनाकर पूरा करता है, नायिका का सौंदर्य परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार रीतिमुक्त कवि घनानंद की सौंदर्य विषयक अवधारणा है। घनानंद की प्रेयसी सुजान अद्वितीय सुन्दर थी।

उनके सौंदर्य की बड़ाई करते हुए घनानंद भी मानते हैं कि यह सौंदर्य चिरनवीन है–

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारिए।
त्यों इन आखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहीं आन तिहारिए॥
(बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ-227)

इसके अतिरिक्त रीतिकालीन अन्य कवियों ने भी सौंदर्य को इसी कसौटी पर कसा है। मतिराम कहते हैं–

कुंदन को रंग फीको लगै झलकै असि अगन चारुर गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनी मैं मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल विकात नहीं मतिराम लहै मुसुकानी मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नीरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकटै सी निकाई॥
(रसराज)

इस प्रकार सौंदर्य अमूर्त है और कवि या कलाकार अपनी प्रतिभा के माध्यम से उस अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करता है। रीतिसिद्ध कवि बिहारी सौंदर्य की सत्ता 'आत्मगत' मानते हैं, वस्तुगत नहीं. इसीलिए उन्होंने लिखा है कि–

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न होय।
मन की रुचि जैसी जितै, तित तेती रुचि होय॥ (बिहारी रत्नाकर)

स्पष्ट है कि सौंदर्य न केवल वस्तु में है, अपितु द्रष्टा की दृष्टि में भी है। वस्तु और दृष्टि के योग से उत्पन्न आकर्षण अस्थायी होता है। सौंदर्य विधान का विवेचन मुख्यत: नारी व प्रकृति के सौंदर्य के माध्यम से किया जाता है। प्राचीनकाल से ही नारी व प्रकृति कवि कलाकारों की प्रिय विषय-वस्तु रही है। नारी के सौंदर्य का निरूपण संस्कृत आचार्यों से लेकर नवीन कवियों तक ने किया है। रीतिकालीन कवियों ने दरबारी परिवेश के अनुकूल नारी सौंदर्य का चित्रण किया है। एक ओर उन्होंने स्थूल शारीरिक आकर्षण का विवेचन किया है तो दूसरी तरफ आतंरिक सौंदर्य का भी निरूपण किया है।

रीतिबद्ध कवियों की सौंदर्य संबंधी धारणाओं में नख-शिख वर्णन महत्वपूर्ण है। रीतिबद्ध कवियों में कुछ ने तो परंपरागत ढंग में नायिकाओं के बाह्य सौंदर्य का चित्रण किया है, तो कुछ कवियों ने 'नख-शिख' संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की है। हिंदी काव्य परंपरा में नख-शिख वर्णन की शुरुआत विद्यापति से होती है और उन्हीं के प्रभाव स्वरूप रीतिकाव्य में नख-शिख वर्णन-संबंधी अनेक ग्रन्थ लिखे गए। तोष, मंडन, कुलपति, चंद्रशेखर आदि कवियों के यहाँ यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

नख-शिख वर्णन में जब कवि रूप का वर्णन करता है, नख से लेकर शिखर तक का सर्वांग चित्र अंकित करता चला जाता है। रीतिकाल का कवि चरणों की सुंदरता का बखान करते हुए कहता है–

अरुरन बरन तरुरनी चरन, अँगुरी अति सुकुमार।
छुवत चुवन सुरंग, रंग मनो, चपि बिछुअन भार॥ (बिहारी रत्नाकर)

अर्थात् नायिका के पैरों की सुकुमारता अद्वितीय है, जो बिछुओं के भार से दबकर 'सुरंग रंग' हो गई है।

इसी प्रकार रीतिसिद्ध कवि बिहारी भी रीति की परिपाटी का पालन करते हुए नायिका के सौदर्य का वर्णन करते समय नख-शिख परंपरा का पालन कर बैठते हैं। एड़ी की सुकुमारता व उसकी लालिमा का वर्णन अतुलनीय है–

पाँई महावरू दैन को नाइन बैठि आय।
फिरि फिरि जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय॥ (बिहारी रत्नाकर)

अर्थात् नायिका की एड़ियाँ इतनी कोमल व रक्तगर्भित हैं कि नाइन को बार महावर लगे होने का भ्रम हो जा रहा है।

इसी प्रकार काव्य के इतिहास में नेत्रों का महत्व सर्वविदित है। नेत्रों के लिए कवियों ने खंजन नयन, मृग नयन, राजीव-लोचन आदि कई उपमान गढ़े हैं। नेत्रों का बाँकपन हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। नेत्रों के द्वारा प्रेम-व्यापार में काफी सहयोग मिलता है। नेत्रों की चंचलता व विशालता का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। बिहारी के नेत्र के सौंदर्य को वर्णित करते दोहे अत्यंत प्रसिद्ध है–

"अनियारे दीरघ–गनि किति न तरुनि समान।
वह चितवति औरें कछू जिहि बस होत सुजान"॥ (बिहारी रत्नाकर)

बिहारी ने पारंपरिक उपमानों के माध्यम के माध्यम से भी नेत्रों की सुंदरता का वर्णन किया है–

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं नैंन।
हरिनि के नैनानु तैं, हरि नीके ए नैन॥ (बिहारी रत्नाकर)

इस प्रकार बिहारी ने सौंदर्य के अत्यंत नयनाभिराम चित्र खींचे हैं और जहाँ वह रीति की नख-शिख परंपरा की परिपाटी विमुक्त हुए हैं। वहाँ-वहाँ सौंदर्य का अत्यंत प्रभावी चित्र खींचते हैं। नायिका के अंग दीप्ति की बड़ी सरस एवं मधुर व्यंजना हुई है–

अंग अंग नग जगमत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हूँ रहै बड़ो उजारै गेह॥ (बिहारी रत्नाकर)

अर्थात् अंग-अंग के आभूषणों के नग उसकी दीपशिखा के सदृश देह से जगमगा उठते हैं। अत: दीपक बुझा देने पर भी घर में प्रकाश बना रहता है।

देव के यहाँ सौंदर्य का मादक रूप परिलक्षित होता है। उनके सौंदर्य उपादान अत्यंत गत्यात्मक हैं, जो मन पर सीधा प्रभाव डालते हैं–

अंग अंग उमड्यो परत रूपरंग नव,
जोबन अनुपम उजासन उजारी सी।
डगर डगर डगरावती अगर अंग,
जगर मगर आपु आवति दिवारी सी॥
(बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ-202)

यहाँ नायिका के रूप रंग का उमड़-उमड़ कर बाहर यौवन को अनुपम सौन्दर्य से भर दे रहा है।

रीतिमुक्त कवियों के यहाँ पाया जाने वाला सौंदर्य अत्यंत सूक्ष्म है। इन कवियों के सौंदर्य वर्णन में वासना का विलास नहीं, बल्कि अंतर की दीप्ति है। नख से शिख तक के सौंदर्य का वर्णन नहीं, अपनी प्रिया के अंग प्रत्यंग का आकर्षण है। घनानंद ने अपनी प्रेयसी सुजान के सौंदर्य का वर्णन किया है। यह सौन्दर्यानुभाव स्वानुभूत है, इसीलिए समग्रता में ही सौन्दर्य निखर कर बाहर आया है। सुजान के समस्त अंग सौष्ठव के वर्णन के द्वारा घनानंद ने जीवन के विकास व उल्लास की स्थिति को भी अभिव्यक्ति दी है–

झलकै अति सुंदर आनंद गौर, छकै–ग राजत कानन ह्वै।
हँसि बोलन में छवि फूलन की, बरसा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
(बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ-226)

घनानंद द्वारा निरुपित सौंदर्य मन पर व्यापक प्रभाव डालने वाला है। घनानंद तो सौंदर्य व रूप का संबंध गुण से भी जोड़ते हैं। रीतिमुक्त कवियों का जो सौंदर्य निरूपण है, उसका स्वरुप प्रभावी, नवीन ताजगी व मधुरता प्रदान करने वाला है।

रीतिकाल की कविता में प्रकृति का सौंदर्य भी विद्यमान है। इन कवियों ने प्रकृति के रुपाकर्षक व नयनाभिराम चित्र प्रस्तुत किये हैं। रीतिकाव्य में प्रकृति मुख्यत: आलंबन या उद्दीपन रूप में ही चित्रित हुई है। परंपरागत रूप में प्रकृति का सौन्दर्य षडऋतु वर्णन एवं बारहमासा वर्णन में हुआ है, परन्तु सेनापति आदि कवियों ने प्राकृतिक सौंदर्य की मनोरम झाँकी प्रस्तुत की है। ऋतु वर्णन करने

में प्रसिद्ध सेनापति के छंद लोक मानस के सहज भावों का उद्देलन करने में समर्थ हैं। झमक-झमक कर आने वाली वर्षा ऋतु का एक छंद अत्यंत प्रसिद्ध है–

गगन अगन घनाघन तैं सघन तम,
सेनापति नेक हूँ न नैन अटकत हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँड़ी,
चपला चमक और सो न अटकत हैं॥ (कवित्त रत्नाकर)

सेनापति के ऋतु वर्णन से उनकी प्रतिभा का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त पद्माकर, द्विजदेव आदि कवियों ने प्रकृति के सौंदर्य को अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है।

वीरता

रीतिकाल में वीर रस की रचनाओं का भी विशेष महत्त्व है। आदिकाल में जिस वीरकाव्य की रचना हुई थी, उसका अनुकरण रीतिकाल में भी हो रहा था। आदिकाल में प्रयुक्त चरितकाव्य व रासोकाव्य परंपरा की अभिव्यंजनात्मक शैली का उचित निर्वाह रीतिकालीन कवि कर रहे थे। आश्रयदाता की प्रशंसा के साथ-साथ, युद्धादि के वर्णन में वस्तु परिगणनात्मक शैली का ही प्रयोग हुआ है। दरबारी वातावरण व परिवेश में होने के कारण राजा व आश्रयदाताओं का प्रशस्ति-गान भी हो रहा था। इस काल के वीरकाव्य में भूषण, लाल आदि कवियों के यहाँ पायी जाने वाली देशभक्ति व राष्ट्रीय चेतना संबंधी दृष्टिकोण का आदिकाल में अभाव पाया जाता है।

इस काल में वीरकाव्य रचना प्रबंधक तथा मुक्तक दोनों रूपों में हुई है। मुक्तक में वीरकाव्य की रचना करने वालों में भूषण का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भूषण वीर रस के प्रणेता व राष्ट्रीयता के कवि थे। तत्कालीन समय में जब कवियों का लक्ष्य आश्रयदाता की प्रशंसा करना व उनकी मनोवृत्ति के अनुरूप काव्य-रचना करना रह गया था। ऐसे समय में भूषण शिवाजी व छत्रसाल की वीरता के गीत गा रहे थे। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'शिवाजी और छत्रसाल को जिस उत्साह के साथ सारी जनता स्मरण करती है, उसकी व्यंजना भूषण ने की है।'(आचार्य शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ- 174) भूषण का काव्य मात्र प्रशस्तिमूलक काव्य नहीं है, बल्कि अपने समय की सच्चाईयों को अभिव्यक्ति देने वाला काव्य है, वह उस समय की राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों का दस्तावेज है–

"औरंगजेब के समय में मुगल सत्ता के विरोध में अनेक राजनीतिक शक्तियाँ उठ खड़ी हुई, जिन्होंने अंत तक औरंगजेब का विरोध किया। छत्रपति शिवाजी औरंगजेब के कट्टर विरोधी थे। इसी तरह महाराणा राजा सिंह, महाराज छत्रसाल बुंदेला, गुरु गोविन्द सिंह और इनके समर्थक अनेक नरेश व सामंत औरंगजेब का राजनीतिक विरोध करते थे। इस समय में जो राजनीतिक संघर्ष हुए, उसमें वीरता भारतीय जनता ने और विशेष रूप से हिन्दू जनता ने उन शक्तियों का समर्थन किया, जिन्होंने औरंगजेब का विरोध किया।" (राजमल बोरा, हिंदी वीरकाव्य, पृष्ठ-76)

कवि भूषण की निम्नलिखित पंक्तियाँ तत्कालीन हिन्दू जनता की राजनीतिक शक्तियों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करती है–

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे समै राव-राने सवै गए लबकी।
गौरा गनपति आय, औरंग को देखि ताप,
अपने मुकाम सब मारि गए दबकी।
पीरा पयगम्बरा दिगम्बरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई, रही बात सबकी।
कासी हू की कला गई मथुरा मसीत भई,
शिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी। (भूषण ग्रंथावली)

यदि शिवाजी न होते तो संभवत: सब का धर्म-परिवर्तन करा दिया गया होता। इस समय में वीरता का यह स्वर मनुष्य को साहस, शक्ति व संकल्प प्रदान करता है।

इस समय मुगल साम्राज्य अस्तोन्मुख था। औरंगजेब के अत्याचार से हिन्दू जनता पीड़ित थी। भारतीय जनता ने इनके अत्याचारों के विरुद्ध सिर उठाया। मराठे, सिख और कुछ रजवाड़े इस विद्रोह को आगे बढ़ाने वाले थे। इसी समय में भूषण, लाल, मान आदि कवि हिन्दू वीरों की वीरता के संबंध में उत्कृष्ट काव्य-रचना कर रहे थे। लाल कवि ने अपने काव्य में देश की दशा का वर्णन किया है। उनकी रचना 'छत्रप्रकाश' में छत्रसाल के शौर्य का बखान है। बुंदेल वंश की उत्पत्ति से लेकर मुगलों के साथ अनेक युद्धों में विजय-प्राप्ति आदि का वर्णन उस ग्रंथ में हुआ है। इतिहास की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण पुस्तक है। "काव्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढंग का अनूठा है।" (आचार्य शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-230.) छत्रसाल की

प्रशंसा में लाल कवि द्वारा गाया हुआ गीत कहीं भी अतिशयता की सीमा तक नहीं पहुँचा है–

चौंकि-चौंकि सब दिसि उठै, सूबा खान सुमान।
अब धौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥ (आचार्य शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ- 230)

इन कवियों ने समय की आवश्यकतानुसार राष्ट्रीय चेतना का अलख जगाया। धर्म व संस्कृति का सहारा लेकर राष्ट्रीय भावना को उद्‌बुध किया। इन कवियों ने समाज में व्याप्त विकृतियों को पहचाना था। जनता को कष्टों से उद्धार की इसी भावना से प्रेरित होकर भूषण ने शिवाजी को अवतारी पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। भूषण ने अपने एक पद में औरंगजेब को अत्याचारों की प्रतिमूर्ति कहा है। भूषण ने मलेच्छों व अत्याचारियों को कच्छप तथा मगरमच्छ व उनके आश्रित राजाओं को नद व नदी कहा है। भूषण ने शिवाजी की तुलना उस जहाज से की है, जो जनता को अत्याचारों से मुक्ति दिलाएगा–

कलजुग जलधि अपारू उद्ध अधरम्म उम्मिमय।
लच्छनि लच्छ मलिच्छ कच्छ अरू मच्छ मगर चय॥
नृपति नद-नद वृन्द होत जा को मिलि नीरस।
भनि भूषण सब भूम्मि घेरि कन्निय सुअप्प बस॥
हिन्दुवान पुन्य गाहक बनिक, तासु निवाहक साहि सुव।
वर वादवान किरवान, धरि, जस जहाज सिवराज तुव॥ (भूषण ग्रंथावली)

इन कवियों ने अपने चरितनायक के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्ति दी। इन्होंने उस युग चेतना को अभिव्यक्त किया, जो संस्कृति के उत्थान व समाज के नवनिर्माण के लिए आवश्यक थी। भूषण ने 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल दशक', लाल कवि ने 'छत्र प्रकाश' व जोधराज कवि ने 'हम्मीर रासो' जैसी रचनाओं के माध्यम से वीर रस की सरिता प्रवाहित की है। वीर भावों की अभिव्यंजना के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक भावनाओं को भी स्वर प्रदान किया है। इन कवियों में युग बोध था। युग की स्थिति की पहचान कर उनको काव्य में निबद्ध करने की शक्ति विद्यमान थी। इन कवियों के काव्य की विषय-वस्तु अपने चरित नायकों के शौर्य व पराक्रम का जीवंत व मार्मिक प्रस्तुतिकरण है। भूषण की शिवाजी के शौर्य का बखान करती निम्न पंक्तियाँ अत्यंत लोकप्रिय है–

इंद्र जिमि जंभ पर वाड़व सुअंभ पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर,
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर,
यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज हैं। (भूषण ग्रंथावली)

ऐसी परिस्थितियों में जब समाज पतन की ओर अग्रसर था, इन कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से राष्ट्र के उत्थान का कार्य किया है। इन कवियों के अलावा अधिकांश कवियों ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में ही काव्य रचना की है। कहीं कहीं यह प्रशंसा अतिश्योक्ति की सीमा को भी पार कर जाती है। इन कवियों ने युद्ध-प्रसंगों व युद्ध उपकरणों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। सूदन के 'सुजान चरित' में रामचंद्र शुक्ल ने उनकी वस्तुओं की गिनती गिनाने की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। रीतिग्रंथकारों ने भी अपनी रचनाओं में प्रशस्ति गान किया है। भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय', सुखदेव के 'छंदविचार' आदि में प्रशस्तिपूर्ण रचनाएँ दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त रतन कवि का 'फतेहसिंह प्रकाश', गंजन कवि का 'कमरुद्दीन खाँ हुलास', सूर्यमल्ल का 'वंश भास्कर', पद्माकर का 'हिम्मतबहादुर विरुदावली', व ग्वाल कवि का 'हम्मीर हठ' व 'विजय विनोद' आदि इसी परंपरा के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

इन कवियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कोमलकांत पदावली युक्त ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। इन्होंने ब्रजभाषा को अपने उदात्त भावों के अनुकूल ही ढाल लिया। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाएं जैसे– बुंदेलखंडी, पंजाबी, मारवाड़ी, राजस्थानी, फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का भी उत्कृष्ट प्रयोग देखने को मिल जाता है। इन शब्दों को भाव की ओजस्विता के अनुसार ढाल कर भाषा को प्रभावी बनाया गया है। यह अवश्य है कि भाषा को अपने अनुकूल ढालने के प्रयत्न में शब्दों की तोड़-मरोड़ भी बहुत हुई, जिससे उसका स्वरुप कहीं-कहीं दोषपूर्ण हो गया है। फिर भी इन काव्यों की महत्ता भाषा से अधिक भावों की है। यह राष्ट्रीय चेतना को उद्बुध करने वाले काव्य हैं, जो अपने समय का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत करते हैं।

राजप्रशस्ति

यह प्रवृत्ति आश्रयदाताओं की दान-वीरता और युद्धवीरता के वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। इनकी अभिव्यक्ति में सामान्य रूप से दान की सामग्री की प्रचुरता और आश्रयदाताओं के आतंक के प्रभाव के वर्णनों के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती। यह राजाओं की झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है। इनमें उत्साह का अभाव ही रहा है।

भक्ति

भक्ति की प्रवृत्ति ग्रंथों के मंगलाचरणों, ग्रंथों की समाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति एवं शांत रस के उदाहरणों में मिलती है। ये कवि राम-कृष्ण के साथ गणेश, शिव और शक्ति में समान श्रद्धा व्यक्त करते पाये जाते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी धार्मिक कट्टरता नहीं थी। वास्तव में इय समय भक्ति धार्मिकता का परिचायक नहीं थी, बल्कि विलास से जर्जर दरबारी वातावरण से बाहर आकुल मन की शरणभूमि थी।

नीति काव्य

रीतिकाल में नीतिकाव्य की रचना भी प्रचुर मात्रा में हुई। भक्तिकाल में नीति भक्ति से संपृक्त हो कर उभरी थी, परन्तु रीतिकाल में इसके स्वरुप में परिवर्तन आ गया। नीति का संबंध अब आध्यात्म जगत से ना होकर सीधे-सीधे लोक व्यवहार से संबद्ध हो गया।

इस काल के नीतिकारों की चिंता परमात्मा से जुड़ने की नहीं, बल्कि सामान्य मनुष्य के भौतिक व मानसिक समस्याओं व उसके समाधानों से जुड़ने की थी। इस तरह की नीतिपरक उक्तियाँ रीतिकाव्य में सर्वत्र मिलती हैं।

इस काल के प्रसिद्ध नीति-काव्यकारों में गिरधर कविराय, वृन्द, घाघ, बैताल, सम्मन तथा दीनदयाल गिरि आदि प्रमुख माने जाते हैं। यों तो नीति संबंधी रचनाओं की परंपरा संस्कृत काव्य में भर्तृहरि से ही मिलने लगती है। आगे चलकर हेमचन्द्र के व्याकरण में अपभ्रंश भाषा के नीति-विषयक दोहों का परिचय प्राप्त होता है। भक्तिकाल में कबीर, तुलसी व रहीम के नीति विषयक दोहे और बरवै अत्यंत प्रसिद्ध हैं। यही परंपरा आगे चलकर रीतिकालीन काव्य में भी दिखाई देती है। वृन्द ने 'वृन्द सतसई' में केवल नीतिपरक दोहों की रचना

की है। 'वृन्द सतसई' में नीति के लगभग सात सौ दोहें हैं, जिसमें उन्होंने सूक्ति:प में अपनी बात रखी है। उदाहरणार्थ–

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात॥ (वृन्द सतसई)

वैसे तो वृन्द नेशृंगार संबंधी रचनाएँ भी की हैं, परन्तु 'इनकी ख्याति अधिकतर सूक्तिकार के रूप में ही है।'(रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-225.)

वृन्द के दोहे लोकजीवन की छवि को उकेरने में सक्षम हैं। उनके दोहों की सरलता ही उसकी लोकप्रियता का आधार है–

भले बुरै सब एक सम, जो लौं बोलत नाहीं।
जान परत है काग पिक, ऋतु बसंत के माहिं॥ (वृन्द सतसई)

इन्होंने भौतिक जीवन से संबंधित नैतिक व व्यावहारिक उपदेश अत्यंत सहज, सरस व सरल ब्रजभाषा में प्रस्तुत किये। रोजमर्रा के जीवन में प्रचलित कहावतों व मुहावरों का प्रयोग भी इनकी सूक्तियों में दिखाई देता है। जैसे–

कैसे निबहे निबल जन करि सबलन सो गैर।
जैसे बसि सागर विशै करत मगर सों बैर॥

या

अपनी पहुँच विचारि कै करतब करिये दौर।
तेते पाँव पसारिए जेती लांबी सौर॥ (वृन्द सतसई)

यह सूक्तियां आज भी ग्रामीण जनों में उतनी ही लोकप्रिय हैं, जितनी पहले रहा करती थी।

वृन्द ने अपने नीतिपरक काव्य के लिए दोहा छंद का प्रयोग किया है, वहीँ गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि ने कुण्डलियाँ के माध्यम से नीति विषयक काव्य की रचना की है, लगभग संवत् 1800 के मध्य गिरधर कविराय ने कुंडलियों की रचना की। इनकी कुण्डलियों का सीधा-संबंध समाज, जाति, गाँव-घर आदि से था। इनकी लोकप्रियता का मुख्य कारण लोकव्यवहार सम्बन्ध ज्ञान का चमत्कार रहित सीधी-सादी उक्तियों का सरल भाषा में वर्णित होना है। "उनकी कुंडलियों को देखने पर पता लगता है कि वे एक ओर सिद्धांत कथन कह रहे थे और दूसरी ओर लोक व्यवहार की बातें, लोक व्यवहार संबंधी कुंडलियाँ बहुत लोकप्रिय बन गई- इतनी लोकप्रिय कि आज भी गाँव-गाँव में

सुनी जाती हैं।" (बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृष्ठ-267.) नीति संबंधी कुण्डलियों में अत्यंत सरल भाषा का प्रयोग हुआ है–

साई सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में, तब लनि ताको चार॥
तब लगि ताको चार-चार सुंग ही सुग डोलै।
पैसा रहा न पास यार मुँख सौ नहिं बोलै॥
कह गिरिधर कविराय जगत यहि लेखा भाई।
बिनु बेगरजी प्रीत चार बिरला कोई साई॥

दरबारी वातावरण से सीधा संबंध रखने वाले कवियों ने भी अपनी काव्य रचना में नीतिपरक दोहों की अभिव्यक्ति की है। भूपति, भिखारीदास, मतिराम, बिहारी आदि के काव्य में नीतिकथन पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं।

बिहारी ने अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर नीति विषयक दोहों का निर्माण किया है। अपने नीतिपरक दोहों में उन्होंने ज्ञान-संबंधी विस्तार का परिचय दिया है। उक्त दोहे में नीति कथन है कि कुछ विषय ऐसे होते हैं, जिनमें अधूरे मन से उतरने पर सफलता नहीं मिलती, ऐसे विषय हैं–संगीत, कविता, प्रेम व रतिक्रीड़ा। इसमें अपना सर्वस्व अर्पण करना पड़ता है–

तंत्री नाव कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग॥ (बिहारी रत्नाकर)

बिहारी ने जीवन के सामान्य अनुभव को सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। विनय संपन्न व्यक्ति जीवन में उन्नति करता है, इस कथन की पुष्टि बिहारी निम्न दोहे से करते हैं–

नल की अरू नल की गति एकै करि जोय।
जेतो नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय॥ (बिहारी रत्नाकर)

इसी प्रकार निम्न दोहे में कवि ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। बिहारी जानते हैं कि आज इस दुनिया में दुष्टों को पूजा जाता है, भले व्यक्तियों का तिरस्कार होता है–

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमानु।
भलौ-भलौ कहि छोड़िए, खोटे ग्रह जपदानु॥ (बिहारी रत्नाकर)

इस प्रकार से नीतिकाव्य की पर्याप्त रचना इस काल में हुई है। यह उनके व्याकुल मन को सांत्वना पहुँचाने का एक साधन थी। "भक्ति यदि इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के

घात-प्रतिातों से उत्पन्न मानसिक द्वंद्व के विरेचन के परिणामस्वरुप शांति का आधार थी। "(सं. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-308)।

लक्षण ग्रंथों का निर्माण

रीतिकाल की सर्वप्रमुख विशेषता लक्षण-ग्रंथों का निर्माण है। यहाँ काव्य-विवेचना अधिक हुई। कवियों ने संस्कृत के लक्षण ग्रंथकार आचार्यों का अनुकरण करते हुए अपनी रचनाओं को लक्षण-ग्रंथों अथवा रीति ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि रीति निरुपण में इन कवियों को विशेष सफलता नहीं मिली। प्राय: इन्होंने संस्कृत-ग्रंथों में दिए गए नियमों और तत्त्वों का ही हिंदी पद्य में अनुवाद किया है। इनमें मौलिकता और स्पष्टता का अभाव है।

वीर और भक्ति काव्य

रीतिकाल में अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं वीर और भक्ति के भी दर्शन होते हैं। भूषण का वीर काव्य हिंदी साहित्य की निधि है।

ब्रजभाषा का उत्कर्ष

यह काल ब्रजभाषा का स्वर्णयुग रहा। भाषा में वर्णमैत्री, अनुप्रासत्ज, ध्वन्यात्मकता, शब्दसंगीत आदि का पूरा निर्वाह किया गया है। भाषा की मधुरता के कारण मुसलमान कवियों का भी इस ओर ध्यान गया। इसमें अवधी, बुन्देलखंडी, फारसी के शब्दों को मिलया गया और कवि ने अपने भावानुकूल बनाने के लिए इसके शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा। यह शक्ति भूषण और देव में विशेष रूप से थी। कोमल कांत पदावली में देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है, लेकिन भाषा को अत्यधिक कोमल तथा चमत्कारिक बनाने के कारण उसमें कई दोष भी आ गए।

आलंकारिकता

रीतिकाव्य की एक अन्य प्रधान प्रवृत्ति आलंकारिकता है। इसका कारण राजदरबारों का विलासी वातावरण तथा जन-साधारण की रुचि थी। कवि को अपनी कविता भड़कीले रंगों में रंगनी पड़ती थी। बहुत सारे कवियों ने अलंकारों के लक्षण उदाहरण दिए, लेकिन बहुतों ने केवल उदाहरण ही लिखे, जबकि उनके मन में लक्षण विद्यमान थे। अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि वह

साधन न रहकर साध्य बन गए, जिससे काव्य का सौंदर्य बढ़ने की अपेक्षा कम ही हुआ। कभी-कभी केवल अलंकार ही अलंकार स्पष्ट होते हैं और कवि का अभिप्रेत अर्थ उसी चमत्कार में खो जाता है। यह दोष रीतिकालीन काव्यों में प्रायः दिखाई पड़ता है। केशव को इसी कारण कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता है।

काव्य-रूप

रीति काल में मुक्तक-काव्य रूप को प्रधानता मिली। राजाओं की कामक्रिडा और काम-वासना को उत्तेजित करने एवं उनकी मानसिक थकान को दूर करने के लिए जिस कविता का आश्रय लिया गया, वह मुक्तक ही रही। अतः इस काल में कवित्त और सवैयों की प्रधानता रही। कवित्त का प्रयोग वीर और शृंगार रसों में तथा सवैयों का शृंगार रस में हुआ। बिहारी ने दोहा छंद के सीमित शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की कला को विकसित किया। काव्यांगों के लक्षण प्रायः दोहों में ही लिखे जाते थे। कभी-कभी उदाहरण भी दोहों में दिए गए। वैसे भी, धैर्य तथा एक-रसता के अभाव में प्रबंध-काव्य का सृजन असम्भव था। फिर भी, कुछ अच्छे प्रबंध-काव्य लिखे गए। जैसे गुरु गोविन्द सिंह का चंडी-चरित्र, पद्माकर का हिम्मत बहादुर विरुदावली, लालकवि का छत्र-प्रकाश आदि।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गौण-प्रवृत्तियों में राज प्रशस्ति की प्रवृत्ति, शृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति एंव नीति ने उससे निवृत्ति की।

लक्षण ग्रन्थों की परम्परा

यूं तो भक्तिकाल में ही कृपाराम ने 'हिततंगिणी' और नंददास ने 'रस-मंजरी' लिख कर हिंदी में लक्षण ग्रंथों का सूत्रपात कर दिया था। लेकिन केशव को ही हिंदी का सर्वप्रथम रीति-ग्रंथकार स्वीकार किया जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक प्रिया' ग्रंथ लिख कर हिंदी में रस और अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया था, किंतु केशव के बाद लगभग 50 वर्ष तक रीति ग्रंथों की परम्परा में और कोई कवि नहीं आया। बाद में जो लोग इस परम्परा में आए भी, उन्होंने केशव की प्रणाली को नहीं अपनाया। इसलिए कुछ आलोचक केशव को सर्वप्रथम आचार्य स्वीकार करने में संकोच करते हैं।

केशव के बाद इस क्षेत्र में आचार्य चिंतामणी आए। उन्होंने 'पिंगल', 'रस-मंजरी', 'शृंगार-मंजरी' और 'कवि-कल्पतरु' की रचना कर इस विषय का व्यापक प्रतिपादन किया। उनका विवेचन अत्यंत सरल एवं स्पष्ट है। इसके बाद आने वाले कवियों ने भी इन्हीं की शैली को अपनाया। इसलिए प्रायः इन्हें ही हिंदी साहित्य में रीति-ग्रंथों का सूत्रपात करने वाला प्रथम आचार्य स्वीकार किया जाता है। इनके अनन्तर तो हिंदी में लक्षण-ग्रंथ लिखने वालों की भरमार-सी हो गई। रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने लक्षण-ग्रंथ लिखे। चिंतामणि के समय में ही मतिराम और भूषण ने अपने लक्षण-ग्रंथ प्रस्तुत किए। इनके बाद इस क्षेत्र में देव कवि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रीतिकाल के लोकप्रिय कवि बिहारी लाल ने यद्यपि स्पष्ट रूप से लक्षण-ग्रंथ नहीं लिखा, तथापि उनकी 'बिहारी सतसई' में रीति ग्रंथों की परम्परा का निर्वाह हुआ है। अलंकार, रस, ध्वनि आदि सबके उदाहरण इसमें उपलब्ध होते हैं।

7

भारतेंदु युग की कविता

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतेन्दु का व्यकितत्त्व प्रभावशाली था, वे सम्पादक और संगठनकर्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आस-पास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेन्दु-युग की संज्ञा देना उचित है। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे।

जिस समय खड़ी बोली गद्य अपने प्रारिम्भक रूप में थी, उस समय हिन्दी के सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की आपस में विरोधी शैलियों में समन्वय स्थापित किया और मध्यम मार्ग अपनाया।

इस काल में हिन्दी के प्रचार में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष योग दिया, उनमें उदन्त मार्तण्ड, कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन अग्रणी हैं। इस समय हिन्दी गद्य की सर्वांगीण प्रगति हुई और उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि विधाओं में अनूदित तथा मौलिक रचनाएं लिखी गयीं।ईस्वी सन 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन एवं

नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान, श्रृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं, जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृध्द किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भार्तेन्दु हरिश्चन्द्र।
प्रताप नारायण मिश्र।
बद्रीनारायण चौधरी श्प्रेमघन।
राधाचरण गोस्वामी।
अम्बिका दत्त व्यास।

भारतेंदु युग के काव्य की प्रवृत्तियाँ (विशेषताएँ)

इस युग की अधिकांश कविता वस्तुनिष्ठ एवम् वर्णनात्मक है। छंद, भाषा एवम् अभिव्यंजना पद्धति में प्राचीनता अधिक है, नवीनता कम। खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु कविता के क्षेत्र में ब्रज ही सर्वमान्य भाषा रही।

भारतेन्दुयुगीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावनाः इस काल की कविता की मुख्य प्रवृत्ति देशभक्ति की है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत का शासन कंपनी के हाथ ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था। जिससे जनता को शांति और सुरक्षा की आशा बँधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। इसमें ब्रिटिश शासकों की गुलामी के साथ-साथ देश की दशा सुधारने की प्रार्थना भी है। जैसे,

करहु आज सों राज आप केवल भारत हित,
केवल भारत के हित साधन में दीजे चित। (प्रेमघन)

इस युग के कवि देश की दयनीय दशा से उत्पन्न क्षोभ के कारण ईश्वर से प्राथना करते हैं-

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जानत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए। (भारतेन्दु)

तो कहीं-कहीं उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए स्वतंत्रता का महत्व बताया है-

सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव॥

जनवादी विचारधारा: भारतेन्दुयुगीन कविता की दूसरी प्रमुख विशेषता है- जनवादी विचारधारा। डॉ. रामविलास शर्मा के मतानुसार भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज-सुधार में समायी हुई है। इस युग का साहित्य भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार चाहता था। इस युग के कवियों ने समाज के दोष युक्त अंग की आलोचना की है-

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
भारतेन्दु मेम-मेहरानी के बारे में कहते हैं-
का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा।
कैसी महरारू है ई, हाय जमाना कैसा।

भारतेन्दु युगीन कविता में साम्प्रत समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार के बहिष्कार का स्वर दिखाई देता है। इस युग में दो विचार-धाराएँ दिखाई देती हैं- 1.पुराणवादी परंपरा के समर्थकों की और 2. आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की, किन्तु भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग अपनाया था। भारतेन्दु ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है। छुआछूत के प्रचार के प्रति क्षोभ के स्वर कवि में हैं। प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवाओं के दु:ख से दु:खी है।

प्राचीन परिपाटी की कविता: भक्ति और श्रृंगार - इस युग में प्राचीन परिपाटी का कविता का सृजन हुआ था। भक्ति और श्रृंगार की परंपराएं इस युग तक चलती रही, परिणाम भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने इसका अनुसरण किया। कुछ कवियों ने नख-शिख वर्णन किया तो कुछ ने दान-लीला, मृगया की रीतिकालीन पद्धति अपनायी। इस प्रकार इस युग की कविता में भक्ति,श्रृंगार एवम् प्रेम-वर्णन के सुंदर नमूने मिलते हैं। जैसे-

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रव जायैं सिर घीजै॥ (भारतेन्दु)
साजि सेज रंग के महल में उमंग भरी।
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत।

उन्होंने रीति कालीन आचार्यों की तरह स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, पपड़ीपन आदि यौन-विकृतियों के चित्र वर्णित किये हैं।

प्रेम-वर्णन- सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे।

कलात्मकता का अभावः भारतेन्दुयुगीन कविता की चौथी मुख्य प्रवृत्ति है- कलात्मकता का अभाव। नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कलात्मक न हो सकी। जिसके कारण ये हैं-

(1) इस काल में विचारों का संक्रांति काल था, जिसके कारण में इसमें कलात्मकता का अभाव रहा।

(2) इस युग में कवि समाचार-पत्रों द्वारा अपनी कविता का प्रचार करते थे, इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने की चिंता नहीं थी।

(3) भाषा का अस्तित्त्व और नागरी आंदोलन के कारण भी कविता कलात्मकता धारण न कर सकी, क्योंकि इस आंदोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित करना था जो कि जनवाणी से ही संभव था।

कहने का मतलब यह है कि इस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवम् भाषा संबंधी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक एवम् प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई। जैसे–

खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय बनाते बैरी अपने भाई॥
हैं उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तार।
सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और विस्तारो॥

काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग– इस काल की भाषा प्रमुख रूप से ब्रजभाषा ही रही। खड़ीबोली गद्य तक ही रही थी, किन्तु इस युग के अंतिम दिनों में खड़ीबोली में कविता करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण द्विवेदी युग में कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली का प्रयोग शुरू हो जाता है। बद्रीनारायण चौधरी, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने भारतेन्दु काल में खड़ीबोली में कविता करने का प्रयास किया था। जैसे-

हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन,
उन दिलदारों से ही,मेल मिला लेते हैं। (प्रेमघन)

भारतेन्दु की खड़ी बोली का एक उदाहरण देखें–

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।

हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार सबेरा है। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में खड़ी बोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती। इसका कारण स्पष्ट है कि इस युग ब्रज भाषा पर रिझे हुए थे। इस प्रकार भाव–व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही।

हास्य–व्यंग्य एवम् समस्या पूर्ति: इस युग में हास्य–व्यंग्यात्मक कविताएँ भी काफी मात्रा में लिखी गई। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों तथा पाश्चात्य संस्कृति पर करारे व्यंग्य किए गए। इस दृष्टि से प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ सर्वोत्तम हैं। समस्या–पूर्ति इस युग की काव्य–शैली थी और उनके मंडल के कवि विविध विषयों पर तत्काल समस्यापूर्ति किया करते थे। रामकृष्ण वर्मा, प्रेमघन, ब्रेनी ब्रज आदि कवि तत्काल समस्या–पूर्ति के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन छंद–योजना: भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवम् स्वतंत्र प्रयास नहीं किया। इन्होंने परम्परा से चले आते हुए छन्दों का उपयोग किया है। भक्ति और रीति काल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छंदों का इन्होंने प्रयोग किया। जब कि जातीय संगीत का सादारम लोगों में प्रचार करने के लिए भारतेन्दु ने कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, गजल, श्रद्धा, चौती, होली, सांझी, लावनी, बिरहा, चनैनी आदि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में परम्परा और आधुनिकता का संगम है। कविता की दृष्टि से यह संक्रमण का युग था। कवियों के विचारों में परिवर्तन हो रहा था। परम्परागत संस्कारों का पूर्ण रूप से मोहभंग हुआ भी न था और साथ में नवीन संस्कारों को भी वे अपना रहे थे। काशी नवजारण का प्रमुख केन्द्र था और यहां का साहित्यिक परिवेश भी सर्वाधिक जागरूक था। तत्कालीन परिवर्तनशील सामाजिक मूल्यों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था।भारतेंदु युग ने हिंदी कविता को रीतिकाल केशृंगारपूर्ण और राज–आश्रय के वातावरण से निकाल कर राष्ट्रप्रेम, समाज–सुधार आदि की स्वस्थ भावनाओं से ओत–प्रेत कर उसे सामान्य जन से जोड़ दिया। इस युग की काव्य प्रवृत्तियाँ निम्नानुसार हैं–

1. देशप्रेम की व्यंजना

अंग्रेजों के दमन चक्र के आतंक में इस युग के कवि पहले तो विदेशी शासन का गुणगान करते नजर आते हैं–

परम दुखमय तिमिर जबै भारत में छायो,
तबहिं कृपा करि ईश ब्रिटिश सूरज प्रकटायो।

किंतु शीघ्र ही यह प्रवृत्ति जाती रही। मननशील कवि समाज राष्ट्र की वास्तविक पुकार को शीघ्र ही समझ गया और उसने स्वदेश प्रेम के गीत गाने प्रारम्भ कर दिए–

बहुत दिन बीते राम, प्रभु खोयो अपनो देस।
खोवत है अब बैठ के, भाषा भोजन भेष
(बालमुकुन्द गुप्त)

विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, ईश्वर से स्वतंत्रता की प्रार्थना आदि रूपों में भी यह भावना व्यक्त हुई। इस युग की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक राष्ट्रीयता है, जिसमें हिंदू राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है।

देश-प्रेम की भावना के कारण इन कवियों ने एक ओर तो अपने देश की अवनति का वर्णन करके आंसू बहाए तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार की आलोचना करके देशवासियों के मन में स्वराज्य की भावना जगाई। अंग्रेजों की कूटनीति का पर्दा फाश करते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा–

सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रहि लखिय तमाशा।
प्रबल देखिए जाहि ताहि मिलि दीजै आसा।

इसी प्रकार जब काबुल पर अंग्रेजों की विजय होने पर भारत में दिवाली मनाई गई तो भारतेंदु ने उसका विरोध करते हुए लिखा –

आर्य्य गनन कों मिल्यौ, जो अति प्रफुलित गात।
सबै कहत जै आजु क्यों, यह नहिं जान्यौ जात
सुजस मिलै अंग्रेज को, होय रूस की रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै, हमको केवल सोक

2. सामाजिक चेतना और जन-काव्य

समाज-सुधार इस युग की कविता का प्रमुख स्वर रहा। इन्होंने किसी राजा या आश्रयदाता को संतुष्ट करने के लिए काव्य-रचना नहीं की, बल्कि अपने

हृदय की प्रेरणा से जनता तक अपनी भावना पहुंचाने के लिए काव्य रचना की। ये कवि पराधीन भारत को जगाना चाहते थे, इसलिए समाज-सुधार के विभिन्न मुद्दों जैसे स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, विदेश-यात्रा का प्रचार, समाज का आर्थिक उत्थान और समाज में एक दूसरे की सहायता आदि को मुखरित किया यथा -

निज धर्म भली विधि जानैं, निज गौरव को पहिचानैं।
स्त्री-गण को विद्या देवें, करि पतिव्रता यज्ञ लेवैं।
(प्रताप नारायण मिश्र)
हे धनियो क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार।
जिसका मरे पड़ोसी भूखा, उसके भोजन को धिक्कार।

3. भक्ति-भावना

इस युग के कवियों में भी भक्ति-भावना दिखाई पड़ती है, लेकिन इनकी भक्ति-भावना का लक्ष्य अवश्य बदल गया। अब वे मुक्ति के लिए नहीं, अपितु देश-कल्याण के लिए भक्ति करते दिखाई देते हैं–

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जगत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।
(भारतेंदु हरिश्चंद्र)

4. हिंदू-संस्कृति से प्यार

पिछले युगों की प्रतिक्रिया स्वरूप इस युग के कवि-मानस में अपनी संस्कृति के अनुराग का भाव जाग उठा। यथा -

सदा रखें दृढ़ हिय मँह निज साँचा हिन्दूपन।
घोर विपत हूँ परे दिगै नहिं आन और मन।
(बालमुकुन्द गुप्त)

5. प्राचीनता और नवीनता का समन्वय

इन कवियों ने एक ओर तो हिंदी-काव्य की पुरानी परम्परा के सुंदर रूप को अपनाया, तो दूसरी ओर नयी परम्परा की स्थापना की। इन कवियों के लिए प्राचीनता वंदनीय थी तो नवीनता अभिनंदनीय। अतः ये प्राचीनता और नवीनता का समन्वय अपनी रचनाओं में करते रहे। भारतेंदु अपनी 'प्रबोधिनी' शीर्षक कविता में 'प्रभाती'

के रूप में प्राचीन परिपाटी के अनुसार कृष्ण को जगाते हैं और नवीनता का अभिनंदन करते हुए उसमें राष्ट्रीयता का समन्वय करके कहते हैं–

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।

6. निज भाषा प्रेम

इस काल के कवियों ने अंग्रेजों के प्रति विद्रोह के रूप में हिंदी-प्रचार को विशेष महत्त्व दिया और कहा –

(क) निज-भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

(भारतेंदु)

(ख) जपो निरंतर एक जबान, हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान।

(प्रताप नारायण मिश्र)

यद्यपि इस काल का अधिकतर साहित्य ब्रजभाषा में ही है, किंतु इन कवियों ने ब्रजभाषा को भी सरल और सुव्यवस्थित बनाने का प्रयास किया। खड़ी बोली में भी कुछ रचनाएँ की गई, किंतु वे कथात्मकता और रुक्षता से युक्त हैं।

7. शृंगार और सौंदर्य वर्णन

इस युग के कवियों ने सौंदर्य और प्रेम का वर्णन भी किया है, किंतु उसमें कहीं भी कामुकता और वासना का रंग दिखाई नहीं पड़ता। इनके प्रेम-वर्णन में सर्वत्र स्वच्छता एवं गंभीरता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के काव्य से एक उदाहरण दृष्टव्य है–

हम कौन उपाय करै इनको हरिचन्द महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँकियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।

8. हास्य-व्यंग्य

भारतेंदु हरिश्चंद्र एवं उनके सहयोगी कवियों ने हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति भी मिलती है। उन्होंने अपने समय की विभिन्न बुराइयों पर व्यंग्य-बाण छोड़े हैं। भारतेंदु की कविता से दो उदाहरण प्रस्तुत हैं–

(क) भीतर भीतर सब रस चूसै
हंसि-हंसि कै तन-मन-धन मूसै
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज।

(ख) इनकी उनकी खिदमत करो,
रुपया देते-देते मरो।
तब आवैं मोहिं करन खराब,
क्यों सखि सज्जन नहीं खिताब।

9. प्रकृति-चित्रण

इस युग के कवियों ने पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा प्रकृति के स्वतंत्र रुपों का विशेष चित्रण किया है। भारतेंदु के 'गंगा-वर्णन' और 'यमुना-वर्णन' इसके निदर्शन हैं। ठाकुर जगमोहन सिंह के स्वतंत्र प्रकृति के वर्णन भी उत्कृष्ट बन पड़े हैं। प्रकृति के उद्दीपन रूपों का वर्णन भी इस काल की प्रवृत्ति के रूप जीवित रहा।

10. रस

इस काल में शृंगार, वीर और करुण रसों की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति प्रबल रही, किंतु इस काल का शृंगार रीतिकाल के शृंगार जैसा नग्न शृंगार न होकर परिष्कृत रुचि का शृंगार है। देश की दयनीय दशा के चित्रण में करुण रस प्रधान रहा है।

11. भाषा और काव्य-रूप

इन कवियों ने कविता में प्राय: सरल ब्रजभाषा तथा मुक्तक शैली का ही प्रयोग अधिक किया। ये कवि पद्य तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि गद्यकार भी बने। इन्होंने अपनी कलम निबंध, उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में भी चलाई। इस काल के कवि मंडल में कवि न केवल कवि था, बल्कि वह संपादक और पत्रकार भी था।

इस प्रकार भारतेंदु-युग साहित्य के नव जागरण का युग था, जिसमें शताब्दियों से सोये हुए भारत ने अपनी आँखें खोलकर अंगड़ाई ली और कविता को राजमहलों से निकालकर जनता से उसका नाता जोड़ा। उसे कृत्रिामता से मुक्त कर स्वाभाविक बनाया,शृंगार को परिमार्जित रूप प्रदान किया और कविता के पथ को प्रशस्त किया। भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों के साहित्य में जिन नये विषयों का समावेश हुआ, उसने आधुनिक काल की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। इस प्रकार भारतेंदु युग आधुनिक युग का प्रवेश द्वार सिद्ध होता है।

भारतेंदु युग के साहित्यकार और उनकी रचनाएँ

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850-6 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे, किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया।

जीवन परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 9 सितम्बर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख

खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज-भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्‌माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेन्दु ने साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु'(भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)।

सत्य हरिश्चन्द्र (1875,नाटक)।

श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)।

विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)।

भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक)।

नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।

अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)।

प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)।

सती प्रताप (1883,अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीति:पक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)।

अनूदित नाट्य रचनाएँ

विद्यासुन्दर (1868,नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)।

पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)।

धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)।

कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)।

भारत जननी (1877,नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाताश्के हिंदी अनुवाद पर आधारित)।

मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)।

दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)।

निबंध संग्रह

नाटक

कालचक्र (जर्नल)।
लेवी प्राण लेवी।
भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?।
कश्मीर कुसुम।
जातीय संगीत।
संगीत सार।
हिंदी भाषा।
स्वर्ग में विचार सभा।
काव्यकृतियां।
भक्तसर्वस्व (1870)।
प्रेममालिका (1871)।
प्रेम माधुरी (1875)।
प्रेम-तरंग (1877)।

उत्तरार्द्ध भक्तमाल (1876-77)।
प्रेम-प्रलाप (1877)।
होली (1879)।
मधु मुकुल (1881)।
राग-संग्रह (1880)।
वर्षा-विनोद (1880)।
विनय प्रेम पचासा (1881)।
फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)।
प्रेम फुलवारी (1883)।
कृष्णचरित्र (1883)।

दानलीला

तन्मय लीला।
नये जमाने की मुकरी।
सुमनांजलि।
बन्दर सभा (हास्य व्यंग)।
बकरी विलाप (हास्य व्यंग)।

कहानी

अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न।
यात्रा वृत्तान्त।
सरयूपार की यात्रा।
लखनऊ।
आत्मकथा।
एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती।

उपन्यास

पूर्णप्रकाश।
चन्द्रप्रभा।
वर्ण्य विषय।

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी, वहीं उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया, जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते।
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय।
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा,
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा-

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं -

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अत: उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं-

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था। फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यावहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली -शृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली - भक्ति के पदों में,
3. व्यंग्यात्मक शैली - समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‌बोधन शैली - देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्राय: सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है।

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।

महत्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वे बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। वे हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेन्दु अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं सम्पूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था -

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होने कहा-

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो-चार आने कौन देगा, और साधारण-सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया-आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों

की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है, जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं, उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होने एक व्यंग्य कविता लिखी-

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब-जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870

में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होंने तदीय समाज की स्थापना की, जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

हमलोग सर्वांतर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त, मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था -

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं, तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन यानी ड्रेन ऑफ वेल्थ के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंग्रेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था–

भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए–

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था, तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्‌टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है, वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है, उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं, तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फरासीस आदि तुरकी

ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी, जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं।

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया।

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा।

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी, क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दु:खी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दु:ख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी पं. गुरुचरणलाल उपाध्याय के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म भाद्र कृष्ण षष्ठी, संवत् 1912 को उत्तर प्रदेश के जिला मिर्जापुर के दात्तापुर नामक ग्राम के एक संपन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनकी माता ने इन्हें हिंदी अक्षरों का ज्ञान कराया। फारसी की शिक्षा का आरंभ भी घर पर करा दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा के लिए इन्हें गोंडा (अवध)भेजा गया।

इनके पिता पं. गुरुचरणलाल उपाध्याय जी विद्याव्यसनी थे। उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी और फारसी के साथ ही साथ संस्कृत की शिक्षा की व्यवस्था की तथा पं. रामानंद पाठक को अभिभावक शिक्षक नियुक्त किया। पाठक जी काव्यमर्मी एवं रसज्ञ थे। इनके साहचर्य से कविता में रुचि हुई। इन्हीं के उत्साह और प्रेरणा से प्रेमघन जी पद्यरचना करने लगे। संपन्नता और यौवन के संधिकाल में प्रेमघन जी का झुकाव संगीत की ओर हुआ और ताल, लय, राग, रागिनी का परिज्ञान हो गया विशेषत: इसलिए कि ये रसिक व्यक्ति थे और रागरंग में अपने को लिप्त कर सके थे। संवत् 1928 में कलकत्ते से अस्वस्थ होकर आए और लंबी बीमारी में फँस गए। इसी बीमारी के दौरान में प्रेमघन जी की पं. इंद्र नारायण सांगलू से मैत्री हुई। सांगलू जी शायरी करते थे और अपने मित्रों को शायरी करने के लिए प्रेरित भी करते। इस संगत से नज्मों और गजलों की ओर रुचि हुई। उर्दू फारसी का इन्हें गहरा ज्ञान था ही। अस्तु, इन रचनाओं के लिए 'अब्र' (तखल्लुस) उपनाम रखकर गजल, नज्म और शेरों की रचना करने लगे। सांगलू के माध्यम से प्रेमघन जी का भारतेंदु बाबू, हरिश्चंद्रजी से मैत्री का सूत्रपात हुआ। धीरे-धीरे यह मैत्री इतनी प्रगाढ़ हुई कि भारतेंदु जी के रंग में प्रेमघन जी पूर्णतया पग गए,

यहाँ तक कि रचनाशक्ति, जीवनपद्धति और वेश भूषा से भी भारतेंदु जीवन अपना लिया। भारतेंदु-मंडल के कवियों में प्रेमघन जी का प्रमुख स्थान है।

वि. सं. 1930 में प्रेमघन जी ने ष्सद्धर्म सभा' तथा 1931 वि. सं. 'रसिक समाज' की मीरजापुर में स्थापना की। संवत् 1933 वि. में 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुई, जिसमें इनकी कृतियों का प्रकाशन होता। उसका स्मरण चौधरी जी की मीरजापुर की कोठी का धूलिधूसरित नृत्यकक्ष आज भी कराता है। अपने प्रकाशनों की सुविधा के लिए इसी कोठी में आनंदकादंबिनी मुद्रणालय खोला गया। संवत् 1938 में 'आनंदकादंबिनी' नामक मासिक पत्रिका की प्रथम माला प्रकाशित हुई। संवत् 1949 में नागरी नीरद नामक साप्ताहिक का संपादन और प्रकाशन आरंभ किया। प्रेमघन जी के साथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल का पारिवारिक-सा संबंध था। शुक्ल जी शहर के रमईपट्टी मुहल्ले में रहते थे और लंडन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। आनंद कादंबिनी प्रेस में छपाई भी देख लेते थे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी इनके बारे में बताते हुए लिखते हैं–16 वर्ष की अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मंडली मुझे मिल गई। चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था। हम लोग इन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्त्व की दृष्टि में प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक खासे हिन्दुस्तानी रईस थे। बसन्त पंचमी, होली इत्यादि अवसरों पर इनके यहां खूब नाच रंग और उत्सव हुआ करते थे। इनकी हर एक अदा से रियासत और तबीयतदारी टपकती थी। कन्धों तक बाल लटक रहे है। आप इधर से उधर टहल रहे है। एक छोटा-सा लड़का पान की तश्तरी लिये पीछे-पीछे लगा हुआ है। बात की काट-छांट का क्या कहना है। जो बातें इनके मुंह से निकलती थीं, उनमें एक विलक्षण वक्रता रहती थी। इनकी बात-चीत का ढंग इनके लेखों के ढंग से एकदम निराला होता था। नौकरों तक के साथ इनका 'संवाद' सुनने-लायक होता था। अगर किसी नौकर के हाथ से कभी कोई गिलास वगैरह गिरा, तो इनके मुंह से यही निकलता कि 'कारे बचा त नाहीं। ' इनके प्रश्नों के पहले 'क्यों साहब' अक्सर लगा रहता था।

प्रेमघन जी लोगों को प्रायः बनाया करते थे, इससे इनसे मिलने वाले लोग भी इन्हें बनाने की फिक्र में रहा करते थे। मिर्जापुर में पुरानी परिपाटी के एक बहुत ही प्रतिभाशाली कवि रहते थे, जिनका नाम था–वामनाचार्य गिरि। एक दिन वे सड़क पर चौधरी साहब के ऊपर एक कवित्त जोड़ते चले जा रहे थे। अंतिम

चरण रह गया था कि चौधरी साहब अपने बमारमदे में कंधों पर बाल छिटकाये खंभे के सहारे खड़े दिखाई पड़े। चट कवित्त पूरा हो गया और वामनजी ने नीचे से वह कवित्त ललकारा, जिसका अंतिम अंश था–'खम्भा टेकि खड़ी जैसे नारि मुगलाते की। '–

प्रेमधन जी आधुनिक हिंदी के आविर्भाव काल में उत्पन्न हुए थे। इनके अनेक समसामयिक थे, जिन्होंने हिंदी को हिंदी का रूप देने में संपूर्ण योगदान किया। इनमें प्रमुख प्रतापनारायण मिश्र, पंडित अम्बिकादत्त व्यास, पं. सुधाकर द्विवेदी, पं. गोविन्द नारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, बाबू राधा कृष्णदास, पं. किशोरीलाल गोस्वामी तथा रामकृष्ण वर्मा थे।

प्रेमघनजी की रचनाओं का क्रमशः तीन खंडों में विभाजन किया जाता है–

1. प्रबंध काव्य।
2. संगीत काव्य।
3. स्फुट निबंध।

ये कवि ही नहीं उच्च कोटि के गद्यलेखक और नाटककार भी थे। गद्य में निबंध, आलोचना, नाटक, प्रहसन, लिखकर अपनी साहित्यिक प्रतिभा का बड़ी पटुता से निर्वाह किया है। आपकी गद्य रचनाओं में हास परिहास का पुटपाक होता था। कथोपकथन शैली का आपके 'दिल्ली दरबर में मित्रमंडली के यार में देहलवी उर्दू का फारसी शब्दों से संयुक्त चुस्त मुहावरेदार भाषा का अच्छा नमूना है। गद्य में खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग (संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्द) आलंकारिक योजना के साथ प्रयुक्त हुआ। प्रेमघन जी की गद्यशैली की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली गद्य के वे प्रथम आचार्य थे। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके विस्तृत निरूपण की चाल इन्होने चलाई (रामचंद्र शुक्ल)।

लालित्य लहरी के वन्दना सम्बन्धी दोहों और बृजचंद पंचक में इनकी भक्ति भावना व्यक्त हुई है, तो इनकीश्रृंगारिक कवितायें भी रसिकता संपन्न हैं। इनका मुख्य क्षेत्र जातीयता, समाज दशा और देश प्रेम की अभिव्यक्ति है। देश की दुरावस्था के कारणों और देशोन्नति के उपायों का जितना वर्णन इन्होंने किया है, उतना भारतेंदु जी की कविताओं में भी नहीं मिलता, इस सन्दर्भ में नयी से नयी घटना को ये कविता का विषय बना लेते थे, उदाहरण स्वरुप पार्लियामेंट के सदस्य दादाभाई नौरोजी को जब विलायत में 'काला' कहा गया, तब इन्होंने इस पर यह क्षोभ पूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की –

अचरज होत तुमहूँ सम गोरे बाजत कारेय
तासों कारे 'कारे' शब्दहू पर हैं वारे !
कारे कृष्ण, राम, जलधर जल-बरसावन वारे
कारे लागत ताहीं सों कारण कौ प्यारे
याते नीको है तुम 'कारे' जाहू पुकारे,
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे -
सफल होहिं मन के सब ही सकल्प तुम्हारे.

इन्होने कई नाटक लिखे हैं, जिनमें 'भारत सौभाग्य' 1888 में कांग्रेस महाधिवेशन के अवसर पर खेले जाने के लिए लिखा गया था।

प्रेमघनजी का काव्यक्षेत्र विस्तृत था। ये ब्रजभाषा को कविता की भाषा मानते थ। प्रेमघन ने जिस प्रकार खड़ी बोली का परिमार्जन किया इनके काव्य से स्पष्ट है। 'बेसुरी तान' शीर्षक लेख में आपने भारतेंदु की आलोचना करने में भी चूक न की। प्रेमघन कृतियों का संकलन इनके पौत्र दिनेशनारायण उपाध्याय ने किया है, जिसका 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन ने दो भागों में प्रकाशन किया है। प्रेमघन हिंदी साहित्य सम्मेलन के तृतीय कलकत्ता अधिवेशन के सभापति (सं. 1912) मनोनीत हुए थे।

कृतियाँ

'जीर्ण जनपद', 'आनंद अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक-महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा-बिंदु', भारत सौभाग्य, प्रयाग रामागमन, संगीत सुधासरोवर, भारत भाग्योदय काव्य। आदि इनकी प्रसिद्द काव्य कृतियाँ हैं।

गद्य पद्य के अलावा आपने लोकगीतात्मक कजली, होली, चौता आदि की रचना भी की है, जो ठेठ भावप्रवण मीरजापुरी भाषा के अच्छे नमूने हैं और संभवत: आज तक बेजोड़ भी। कजली कादंबिनी में कजलियों का संग्रह है। प्रेमघन जी का स्मरण हिंदी साहित्य के प्रथम उत्थान का स्मरण है।

68 वर्ष की अवस्था में फाल्गुन शुक्ल 14, संवत् 1978 को आपकी इहलीला समाप्त हो गई।

प्रताप नारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र (24 सितंबर, 1856 - 6 जुलाई, 1894) भारतेन्दु मण्डल,, के प्रमुख लेखक, कवि और पत्रकार थे। वह भारतेंदु निर्मित एवं प्रेरित

हिंदी लेखकों की सेना के महारथी, उनके आदर्शों के अनुगामी और आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माणक्रम में उनके सहयोगी थे। भारतेंदु पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी, वह अपने आप को उनका शिष्य कहते तथा देवता की भाँति उनका स्मरण करते थे। भारतेंदु जैसी रचनाशैली, विषय-वस्तु और भाषागत विशेषताओं के कारण मिश्र जी 'प्रति-भारतेंदु' और 'द्वितीय हरिश्चंद्र' कहे जाने लगे थे।

जीवनी

मिश्र जी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के अंतर्गत बैजे गाँव निवासी, कात्यायन गोत्रीय, कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं. संकठा प्रसाद मिश्र के पुत्र थे। बड़े होने पर वह पिता के साथ कानपुर में रहने लगे और अक्षरारंभ के पश्चात उनसे ही, ज्योतिष पढ़ने लगे। किंतु उधर रुचि न होने से पिता ने उन्हें अंग्रेजी स्कूल में भरती करा दिया। तब से कई स्कूलों का चक्कर लगाने पर भी वह पिता की लालसा के विपरीत पढ़ाई-लिखाई से विरत ही रहे और पिता की मृत्यु के पश्चात् 18-19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्कूली शिक्षा से अपना पिंड छुड़ा लिया।

इस प्रकार मिश्रजी की शिक्षा अधूरी ही रह गई। किंतु उन्होंने प्रतिभा और स्वाध्याय के बल से अपनी योग्यता पर्याप्त बढ़ा ली थी। वह हिंदी, उर्दू और बँगला तो अच्छी जानते ही थे, फारसी, अँग्रेजी और संस्कृत में भी उनकी अच्छी गति थी।

मिश्र जी छात्रवस्था से ही 'कविवचनसुधा' के गद्य-पद्य-मय लेखों का नियमित पाठ करते थे, जिससे हिंदी के प्रति उनका अनुराग उत्पन्न हुआ। लावनी गायकों की टोली में आशु रचना करने तथा ललितजी की रामलीला में अभिनय करते हुए उनसे काव्यरचना की शिक्षा ग्रहण करने से वह स्वयं मौलिक रचना का अभ्यास करने लगे। इसी बीच वह भारतेंदु के संपर्क में आए। उनका आशीर्वाद तथा प्रोत्साहन पाकर वह हिंदी गद्य तथा पद्य रचना करने लगे। 1882 के आस-पास 'प्रेमपुष्पावली' प्रकाशित हुई और भारतेंदु जी ने उसकी प्रशंसा की तो उनका उत्साह बहुत बढ़ गया।

15 मार्च 1883 को, होली के दिन, अपने कई मित्रों के सहयोग से मिश्रजी ने 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र निकाला। यह अपने रूप-रंग में ही नहीं, विषय और भाषाशैली की दृष्टि से भी भारतेंदु युग का विलक्षण पत्र था। सजीवता, सादगी, बाँकपन और फक्कड़पन के कारण भारतेंदुकालीन साहित्यकारों

में जो स्थान मिश्रजी का था, वही तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता में इस पत्र का था, किंतु यह कभी नियत समय पर नहीं निकलता था। दो-तीन बार तो इसके बंद होने तक की नौबत आ गई थी। इसका कारण मिश्रजी का व्याधिमंदिर शरीर और अर्थाभाव था। रामदीन सिंह आदि की सहायता से यह येनकेन प्रकारेण संपादक के जीवनकाल तक निकलता रहा। उनकी मृत्यु के बाद भी रामदीन सिंह के संपादकत्व में कई वर्षों तक निकला, परंतु पहले जैसा आकर्षण उसमें न रह।

1889 में मिश्र जी 25. मासिक पर 'हिंदोस्थान' के सहायक संपादक होकर कालाकाँकर आए। उन दिनों पं मदनमोहन मालवीय उसके संपादक थे। यहाँ बालमुकुंद गुप्त ने मिश्रजी से हिंदी सीखी। मालवीय जी के हटने पर मिश्रजी अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण वहाँ न टिक सके। कालाकाँकर से लौटने के बाद वह प्रायः रुग्ण रहने लगे। फिर भी समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कार्यों में पूर्ववत रुचि लेते रहे और 'ब्राह्मण' के लिए लेख आदि प्रस्तुत करते रहे। 1891 में उन्होंने कानपुर में 'रसिक समाज' की स्थापना की। कांग्रेस के कार्यक्रमों के अतिरिक्त भारतधर्ममंडल, धर्मसभा, गोरक्षिणी सभा और अन्य सभा-समितियों के सक्रिय कार्यकर्ता और सहायक बने रहे। कानपुर की कई नाट्य सभाओं और गोरक्षिणी समितियों की स्थापना उन्हीं के प्रयत्नों से हुई थी।

मिश्रजी जितने परिहासप्रिय और जिंदादिल व्यक्ति थे, उतने ही अनियमित, अनियंत्रित, लापरवाह और काहिल थे। रोग के कारण उनका शरीर युवावस्था में ही जर्जर हो गया था, तो भी स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का वह सदा उल्लंघन करते रहे। इससे उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। 1892 के अंत में वह गंभीर रूप से बीमार पड़े और लगातार डेढ़ वर्षों तक बीमार ही रहे। अंत में 38 वर्ष की आयु में 6 जुलाई 1894 को दस बजे रात में भारतेंदु मंडल के इस नक्षत्र का अवसान हो गया।

रचनाएँ

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु के विचारों और आदर्शों के महान प्रचारक और व्याख्याता थे। वह प्रेम को परमधर्म मानते थे। हिंदी, हिंदू, हिदुस्तान उनका प्रसिद्ध नारा था। समाजसुधार को दृष्टि में रखकर उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे हैं। बालकृष्ण भट्ट की तरह वह आधुनिक हिंदी निबंधों को परंपरा को पुष्ट कर हिंदी साहित्य के सभी अंगों की पूर्णता के लिये रचनारत रहे। एक सफल

व्यंग्यकार और हास्यपूर्ण गद्य-पद्य-रचनाकार के रूप में हिंदी साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। मिश्र जी की मुख्य कृतियाँ निम्नांकित हैं।

(क) नाटकः गो संकट, भारत दुर्दशा, कलिकौतुक, कलिप्रभाव, हठी हम्मीर। जुआरी-खुआरी (प्रहसन)। संगीत शाकुंतल (कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतम्' का अनुवाद)।

(ख) निबंध संग्रह निबंध नवनीत, प्रताप पीयूष, प्रताप समीक्षा।

(ग) अनूदित गद्य कृतियाँः राजसिंह, अमरसिंह, इन्दिरा, राधारानी, युगलांगुरीय, चरिताष्टक, पंचामृत, नीतिरत्नमाला,बात।

(घ) कविताः प्रेम पुष्पावली, मन की लहर, ब्रैडला स्वागत, दंगल खंड, तृप्यन्ताम्, लोकोक्तिशतक, दीवो बरहमन (उर्दू)।

वर्ण्य-विषय

मिश्रजी के निबंधों में विषय की पर्याप्त विविधता है। देव-प्रेम, समाज-सुधार एवं साधारण मनोरंजन आदि मिश्रजी के निबंधों के मुख्य विषय थे। उन्होंने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र में हर प्रकार के विषय पर निबंध लिखे। जैसे - घूरे के लत्ता बीने-कनातन के डोल बांधे, समझदार की मौत है,आप, बात, मनोयोग, बृद्ध, भौं, मुच्छ, ह, ट, द आदि।

मिश्रजी 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' के कट्टर समर्थक थे, अतः उनकी रचनाओं में इनके प्रति विशेष मोह प्रकट हुआ है।

भाषा

खड़ीबोली के रूप में प्रचलित जनभाषा का प्रयोग मिश्रजी ने अपने साहित्य में किया। प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। भाषा की दृष्टि से मिश्रजी ने भारतेंदु का अनुसरण किया और जन साधारण की भाषा को अपनाया। भारतेंदुजी के समान ही मिश्रजी भाषा की कृतिमता से दूर रहे। उनकी भाषा स्वाभाविक है। उसमें पंडिताऊपन और पूर्वीपन अधिक है तथा ग्रामीण शब्दों का प्रयोग स्वच्छंदता पूर्वक हुआ है। संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग है। भाषा विषय के अनुकूल है। गंभीर विषयों पर लिखते समय भाषा और गंभीर हो गई है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग में मिश्रजी बड़े कुशल थे। मुहावरों का जितना सुंदर प्रयोग

उन्होंने किया है, वैसा बहुत कम लेखकों ने किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है।

शैली

मिश्रजी की शैली वर्णनात्मक, विचारात्मक तथा हास्य-व्यंग्यात्मक है।

विचारात्मक शैली- साहित्यिक और विचारात्मक निबंधों में मिश्रजी ने इस शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं इस शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट भी मिलता है। इस शैली की भाषा संयत और गंभीर है। 'मनोयोग' शीर्षक निबंध का एक अंश देखिए-इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है। और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छ रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है।

व्यंग्यात्मक शैली - इस शैली में मिश्रजी ने अपने हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंध लिखे हैं। यह शैली मिश्रजी की प्रतिनिधि शैली है, जो सर्वथा उनके अनुकूल है। वे हास्य-विनोद प्रिय व्यक्ति थे। अत: प्रत्येक विषय का प्रतिपादन हास्य और विनोदपूर्ण ढंग से करते थे। हास्य और विनोद के साथ-साथ इस शैली में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विषय के अनुसार व्यंग्य कहीं-कहीं बड़ा तीखा और मार्मिक हो गया है। इस शैली में भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी है। उसमें उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग के कारण यह शैली अधिक प्रभावपूर्ण हो गई है। एक उदाहरण देखिए-दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमत सीख लो और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुंदनी जोड़ कर उसी की जूती उसी का सर कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा और चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे।

समालोचना

मिश्रजी भारतेंदु मंडल के प्रमुख लेखकों में से एक हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। वे कवि होने के साथ-साथ उच्चकोटि के मौलिक निबंध लेखक और नाटककार थे। हिंदी गद्य के विकास में मिश्रजी का बड़ा योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल जी ने पं. बालकृष्ण भट्ट के साथ मिश्रजी को भी महत्व देते हुए अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखा है- पं0 प्रतापनारायण मिश्र और पं0 बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया, जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

राधाकृष्ण दास

राधाकृष्ण दास (1865- 2 अप्रैल 1907) हिन्दी के प्रमुख सेवक तथा साहित्यकार थे। वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। शारीरिक कारणों से औपचारिक शिक्षा कम होते हुए भी स्वाध्याय से इन्होने हिन्दी, बंगला, गुजराती, उर्दू, आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे प्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका के सम्पादक मंडल में रहे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के प्रथम अध्यक्ष भी थे।

इनके पिता का नाम कल्याणदास तथा माता का नाम गंगाबीबी था, जो भारतेंदु हरिश्चंद्र की बूआ थीं। शरीर से प्रकृत्या अस्वस्थ तथा अशक्त होने के कारण इनकी शिक्षा साधारण ही रही पर विद्याध्ययन की ओर रुचि होने से इन्होंने हिंदी, बँगला, उर्दू आदि में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही 'दु:खिनी बाला ' नामक छोटा रूपक लिखा। इसके एक ही वर्ष बाद 'निस्सहाय हिंदू ' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा। इसी के अनंतर 'स्वर्णजता' आदि पुस्तकों का बँगला से हिंदी में अनुवाद किया। भारतीय इतिहास की ओर रुचि हो जाने से इसी काल में 'आर्यचरितामृत' रूप में बाप्पा रावल की जीवनी तथा 'महारानी पद्मावती' रूपक भी लिखा। समाजसुधार पर भी इन्होंने कई लेख लिखे।

यह अत्यन्त कृष्णभक्त थे। 'धर्मालाप' रचना में अनेक धर्मों का वार्तालाप कराकर हरिभक्ति को ही अंत में प्रधानता दी है। इन्होंने तीर्थयात्रा कर अनेक कृष्णलीला-भूमियों का दर्शन किया और उनका जो विवरण लिया है वह बड़ा हृदयग्राही है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, हरिश्चन्द्र विद्यालय आदि अनेक सभा संथाओं के उन्नयन में इन्होंने सहयोग दिया। सरस्वती पत्रिका का प्रकाशनारम्भ इन्हीं के सम्पादकत्व में हुआ और अदालतों में नागरी के प्रचार के लिए भी इन्होंने प्रयत्न किया। सभा के हिन्दी पुस्तकों के खोज विभाग के कार्य का शुभारम्भ इन्हीं के द्वारा हुआ। स्वास्थ्य ठीक न रहने से रोगाक्रान्त होकर यह बहत्तर वर्ष की अवस्था में 1 अप्रैल, सन् 1907 ई. को गोलोक सिधारे।

कृतियाँ

इनकी अन्य रचनाएँ नागरीदास का जीवन चरित , हिंदी भाषा के पत्रों का सामयिक इतिहास, राजस्थान केसरी वा महाराणा प्रताप सिंह नाटक, भारतेन्दु जी की जीवनी, रहिमन विलास आदि हैं। 'दु:खिनी बाला ', 'पद्मावती ' तथा

'महाराणा प्रताप ' नामक उनके नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए। 1889 में लिखित उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू ' में हिन्दुओं की निस्सहायता और मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता का चित्रण है। भारतेन्दु विरचित अपूर्ण हिन्दी नाटक 'सती प्रताप' को इन्होंने इस योग्यता से पूर्ण किया है कि पाठकों को दोनों की शैलियों में कोई अन्तर ही नहीं प्रतीत होता।

अम्बिकादत्त व्यास

भारतेन्दु मण्डल के प्रसिद्ध कवि अंबिकादत्त व्यास का जन्म सन् 1858 ई. में तथा मृत्यु सन् 1900 ई. में हुई। इन्होंने कवित्त सवैया की प्रचलित शैली में ब्रजभाषा में रचना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन हिन्दी सेवियों में पंडित अंबिकादत्त व्यास बहुत प्रसिद्ध लेखक और कवि हैं।अम्बिकादत्त व्यास (जन्म- 1848य मृत्यु- 1900) ब्रजभाषा के कुशल और सरस कवि थे। ये 'भारतेन्दु युग' के कवि और लेखक थे। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन तथा उनसे प्रभावित हिन्दी सेवी साहित्यकार थे। 12 वर्ष की अवस्था में 'काशी कविता वर्धिनी सभा' ने 'सुकवि' की उपाधि से इन्हें सम्मानित किया था।

प्रतिभा सम्पन्न

अम्बिकादत्त व्यास की प्रशंसा भारतेन्दु ने 'कविवचन सुधा' में भूरि-भूरि की है। ये विलक्षण प्रतिमा के धनी थे। इन्हें हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बांग्ला, दर्शन, न्याय, वेदान्त में महारथ हासिल थी। अम्बिकादत्त व्यास ताश और शतरंज खेलने में अच्छे-अच्छों के छक्के छुड़ा देते थे। गाने-बजाने में उस्ताद थे। सितार और हारमोनियम भी अच्छा बजाते थे। जलतरंग सतरंग तक बजा डालते थे। यह सचमुच आश्चर्य जनक बात है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे बहुपठित आलोचक ने हिन्दी साहित्य में इनकी चर्चा क्यों नहीं की, यद्यपि इन्होंने गद्य और पद्य में 50 से अधिक पुस्तकें लिखी थीं।

रचना कार्य

1. व्यास जी का आश्चर्यजनक वृत्तांत अपने समय में 'फन्तासी' उपन्यास था।' 'शिवराज विजय' इनका महत्वपूर्ण संस्कृत उपन्यास है।
2. अम्बिकादत्त ने खड़ी बोली में तुकांत और अतुकांत दोनों प्रकार की कविताएँ लिखीं।

3. काशी से 'वैष्णव-पत्रिका' (1884 ई.) का आरम्भ इन्होंने किया था, जो बाद में 'पियूष-प्रवाह' नाम से साहित्यिक पत्रिका में रूपांतरित हो गयी।
4. कवित्त और सवैया शैली में इनकी ब्रजभाषा की अनेक रचनाएँ लोकप्रिय हुईं।
5. 'बिहारी बिहार' नामक ग्रन्थ में इन्होंने 'बिहारी सतसई' के आधार पर कुंडलियों की रचना की थी।
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रेरणा लेकर अंबिकादत्त व्यास ने कुछ नाटकों की भी रचना की। इनकी विषय-वस्तु कृष्णलीला और गो-रक्षा से सम्बन्धित है।
7. अवतार मीमांसा' अम्बिकादत्त का प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ है।

प्रमुख रचनाएँ

1. पावन पचासा'-अम्बिकादत्त की एक काव्यकृति है।
2. बिहारी बिहार।
3. चांद की रात।

ठाकुर जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह (4 अगस्त 1857 -) हिन्दी के भारतेन्दुयुगीन कवि, आलोचक और उपन्यासकार थे। उन्होंने सन् 1880 से 1882 तक धमतरी में और सन् 1882 से 1887 तक शिवरीनारायण में तहसीलदार और मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया। छत्तीसगढ़ के बिखरे साहित्यकारों को जगमोहन मंडल बनाकर एक सूत्र में पिरोया और उन्हें लेखन की सही दिशा भी दी। जगमोहन मंडल काशी के भारतेन्दु मंडल की तर्ज में बनी एक साहित्यिक संस्था थी।

हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की उन्हें अच्छी जानकारी थी। ठाकुर साहब मूलत: कवि ही थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नई और पुरानी दोनों प्रकार की काव्यप्रवृत्तियों का पोषण किया।

जन्म तथा शिक्षा

ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म विजयराघवगढ़ रियासत में ठाकुर सरयू सिंह के राज परिवार में में हुआ था। 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में ठा. सरयू सिंह ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। फलस्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर

लिया और उन्हें काले पानी की सजा सुनाई गई। लेकिन अंग्रेजी हुकूमत में सजा भोगने की बजाय ठा. सरयू सिंह ने मौत को गले लगना उचित समझा। जगमोहन सिंह ऐसे ही क्रांतिकारी, मेधावी एवं स्वप्न दृष्टा सुपुत्र थे।

अपनी शिक्षा के लिए काशी आने पर उनका परिचय भारतेंदु और उनकी मंडली से हुआ। बनारस के क्वींस कालेज में अध्ययन के दौरान वे भारतेंदु हरिश्चंद्र के सम्पर्क में आए तथा यह सम्पर्क प्रगाढ़ मैत्री में बदल गया जो कि जीवन पर्यन्त बनी रही।

1878 में शिक्षा समाप्ति के बाद वे विजयराघवगढ़ आ गए। दो साल पश्चात् 1880 में धमतरी (छत्तीसगढ़) में तहसीलदार नियुक्त किये गए। बाद में तबादले पर शिवरीनारायण आये। कहा जाता है कि शिवरीनारायण में विवाहित होते हुए भी इन्हें 'श्यामा' नाम की स्त्री से प्रेम हो गया। शिवरीनारायण में रहते हुए इन्होने 'यामा को केंद्र में रख कर अनेक रचनाओं का सृजन किया, जिनमे हिंदी का अत्यंत भौतिक एवं दुर्लभ उपन्यास श्याम-स्वप्न प्रमुख है।

एक प्रेम-पथिक कवि

ठाकुर साहब मूलत: कवि ही थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नई और पुरानी दोनों प्रकार की काव्य प्रवृत्तियों का पोषण किया। उन्होंने जो गद्य लिखा है, उस पर भी उनके कवि-व्यक्तित्त्व की स्पष्ट छाप है। जगमोहन सिंह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के उन स्वनामधन्य कवियों में प्रमुख माने जाते हैं, 'जिन्होंने एक ओर तो हिन्दी साहित्य की नवीन गति के प्रवर्तन में योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाठी की कविता के साथ भी अपना पूरा सम्बन्ध बनाये रखा।" इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपको एक प्रेम-पथिक कवि के रूप में स्मरण किया है।

काव्य भाषा

जगमोहन सिंह की काव्य भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा थी। सरस शृंगारी भावभूमि को लेकर कवित्त-सवैया की रचना करने में आप बहुत निपुण थे। उनकी रचनाओं की एक बहुत बड़ी विशेषता इस बात में है कि वे प्रकृति के ताजा मनोहर चित्रों से अलंकृत हैं। उनमें प्रकृति के विस्तृत सौन्दर्य के प्रति व्यापक अनुराग दृष्टि बिम्बित हुई है। छायावाद युग आरम्भ होने के कोई 25-30 वर्ष पूर्व ही जगमोहन सिंह की कृतियों में मानवीय सौन्दर्य को प्राकृतिक सौन्दर्य

की तुलनामूलक पृष्ठभूमि में देखने-परखने का एक संकेत उपलब्ध होता है और उस दृष्टि से उनकी तत्कालीन रचनाएँ 'हिन्दी काव्य में एक नूतन विधान का आभास देती हैं।"

कविता संग्रह

जगमोहन सिंह जी की कविताओं के तीन संग्रह प्रसिद्ध हैं–

1. प्रेम सम्पत्ति लता (1885 ई.)।
2. श्यामा लता (1885 ई.)।
3. श्यामा-सरोजिनी (1886 ई.)।
4. श्रृंगारिक रचना।

प्रेम सम्पत्ति लता' से इनकी एक बहुउद्धृत श्रृंगारिक रचना (सवैया) निम्नांकित है–

"अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगि कै छतियाँ।
मनकी करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की कतियाँ।।
हम हारि अरि करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुःख की रतियाँ।।"

निबन्धकार

ठाकुर जगमोहन सिंह हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनके समस्त कृतित्त्व पर संस्कृत अध्ययन की व्यापक छाप है। ब्रजभाषा के कवित्त और सवैया छन्दों में कालिदास कृत 'मेघदूत' का बहुत सुन्दर अनुवाद उन्होंने किया है। जगमोहन सिंह जी अपने समय के उत्कृष्ट गद्य लेखक भी रहे। हिन्दी निबन्ध के प्रथम उत्थान काल के निबन्धकारों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। वे ललित शैली के सरस लेखक थे। उनकी भाषा बड़ी परिमार्जित एवं संस्कृतगर्भित थी और शैली प्रबाह युक्त तथा गद्य काव्यात्मक। फिर भी हिन्दी के आरम्भिक गद्य में उपलब्ध होने वाले पूर्वी प्रयोगों और 'पण्डिताऊपन' की चिंत्य शैली से आप बच नहीं पाये हैं। 'धरे हैं', 'हम क्या करैं', 'चाहती हौ', 'जिसै दूँ' और 'ढोल पिटै' जैसे– अशुद्ध प्रयोग उनकी रचनाओं में बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं।

जगमोहन सिंह ने आधुनिक युग के द्वार पर खड़े होकर शायद पहली बार प्रकृति को वास्तविक अनुराग-दृष्टि से देखा था। आपके कविरूप की यह एक

विशेषता है। निबन्धकार के रूप में आपने हिन्दी की आरम्भिक गद्यशैली को एक साहित्यिक व्यवस्था प्रदान की थी।

कृति 'श्यामा स्वप्न'

'श्यामा स्वप्न' जगमोहन सिंह की प्रमुख गद्य कृति है। इसका एक प्रामाणिक स्वरूप श्रीकृष्णलाल द्वारा सम्पादित होकर काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित हो चुका है। लेखक के समसामयिक युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार अम्बिकादत्त व्यास ने इस कृति को गद्य-काव्य कहा है। स्वयं लेखक ने इसे 'गद्यप्रधान चार खण्डों में एक कल्पना' कहा है। यह वाक्यांश इस पुस्तक के मुख पृष्ठ पर अंकित है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है, किंतु गद्य की तुलना में पद्य की मात्रा बहुत कम है। यह कृति वस्तुतः एक भावप्रधान उपन्यास है। उसकी शैली वर्णनात्मक है और इसमें चरित्र-चित्रण की उपेक्षा करके प्रकृति तथा प्रेममय जीवन के सुन्दर चित्र अंकित किये गये हैं।

निधन

ठाकुर जगमोहन सिंह की मृत्यु 42 वर्ष की आयु में 4 मार्च, 1899 ई. में हुई।

बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (23 जून 1844- 20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है।

बालकृष्ण भट्ट आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्ष निर्माताओं में से एक थे। आज की गद्य प्रधान कविता का जनक इन्हें माना जाता है। बालकृष्ण भट्ट एक सफल नाटककार, पत्रकार, उपन्यासकार और निबन्धकार थे। भट्ट जी ने निबन्ध, उपन्यास और नाटकों की रचना करके हिन्दी को एक समर्थ शैली प्रदान की। ये पहले ऐसे निबन्धकार थे, जिन्होंने आत्मपरक शैली का प्रयोग किया था। बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला और फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने हिन्दी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। लगभग बत्तीस वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन कर भट्टजी अपने विचारों का

व्यक्तिकरण करते रहे। ये 'भारतेन्दु युग' की देदीप्यमान मौन विभूति होने के साथ-साथ 'द्विवेदी युग' के लेखकों के मार्ग-दर्शक और प्रेरणा स्रोत भी रहे।

हिन्दी साहित्य में स्थान

बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी के निबन्धकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निबन्धों के प्रारंभिक युग को नि:संकोच भाव से भट्ट युग के नाम से अभिहित किया जा सकता है। व्यंग्य विनोद संपन्न शीर्षकों और लेखों द्वारा एक ओर तो भट्टजी प्रताप नारायण मिश्र के निकट हैं और गंभीर विवेचन एवं विचारात्मक निबन्धों के लिए वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निकट हैं। भट्टजी अपने युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार थे, अपितु इन्हें सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी का निबन्ध लेखक माना जाता है। इन्होंने साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक और सामयिक आदि सभी विषयों पर विचार व्यक्त किये हैं। इन्होंने तीन सौ से अधिक निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों का कलेवर अत्यंत संक्षिप्त है तथा तीन पृष्ठों में ही समाप्त हो जाते हैं। इन्होंने मूलत: विचारात्मक निबन्ध ही लिखे हैं और इन विचारात्मक निबन्धों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

1. व्यावहारिक जीवन से सम्बंधित।
2. साहित्यिक विषयों से समबन्धित।
3. सामयिक विषयों से सम्बंधित।
4. हृदय की वृतियों पर आधारित।

कृतियाँ

भट्टजी 'भारतेंदु युग' की देन थे और भारतेंदु मंडली के प्रधान सदस्य थे। प्रयाग में इन्होंने 'हिन्दी प्रवर्द्धिनी' नामक सभा की स्थापना की थी और 'हिन्दी प्रदीप' नामक पत्र प्रकाशित करते रहे। इसी पत्र में इनके अनेक निबन्ध दृष्टिगोचर होते हैं। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' प्रयाग ने इनके कुछ निबन्धों का संग्रह 'निबन्धावली' नाम से प्रकाशित भी करवाया था।

निबन्ध संग्रह-साहित्य सुमन, भट्ट निबन्धावली।

उपन्यास-नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान।

नाटक-दमयंती स्वयंवर, बाल-विवाह, चंद्रसेन, रेल का विकट खेल।

अनुवाद-वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है, जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा आंग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

शैली

बालकृष्ण भट्ट की लेखन शैली को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। उन्होंने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँख', 'नाक' तथा 'कान' आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य, गद्य न होकर गद्यकाव्य-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

वर्णनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली में बालकृष्ण भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता। इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

विचारात्मक शैली

भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबन्ध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबन्ध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं। इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

भावात्मक शैली

इस शैली का प्रयोग बालकृष्ण भट्ट ने साहित्यिक निबन्धों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है। इस शैली में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ है। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है।

व्यंग्यात्मक शैली

इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है। इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

निधन

बालकृष्ण भट्ट का निधन 20 जुलाई, 1914 ई. में हुआ। लेखकों में उनका सर्वोच्च स्थान है। भट्टजी ने नाटककार, निबन्धकार, लेखक, उपन्यासकार और अनुवादक आदि विभिन्न रूपों में हिन्दी की सेवा की और उसे धनी बनाया। साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबन्ध अत्यंत उच्च कोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना

भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की थी। इनसे पूर्व तक हिन्दी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

देवकीनन्दन खत्री

बाबू देवकीनन्दन खत्री (18 जून 1861 - 1 अगस्त 1913) हिंदी के प्रथम तिलिस्मी लेखक थे। उन्होने चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति, काजर की कोठरी, नरेंद्र-मोहिनी, कुसुम कुमारी, वीरेंद्र वीर, गुप्त गोदना, कटोरा भर, भूतनाथ जैसी रचनाएं की। 'भूतनाथ' को उनके पुत्र दुर्गा प्रसाद खत्री ने पूरा किया। हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार में उनके उपन्यास चंद्रकांता का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इस उपन्यास ने सबका मन मोह लिया। इस किताब का रसास्वादन के लिए कई गैर-हिंदीभाषियों ने हिंदी सीखी। बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'तिलिस्म', 'ऐ"यार' और 'ऐ"यारी' जैसे शब्दों को हिंदीभाषियों के बीच लोकप्रिय बनाया। जितने हिन्दी पाठक उन्होंने (बाबू देवकीनन्दन खत्री ने) उत्पन्न किये उतने किसी और ग्रंथकार ने नहीं।

जीवनी

देवकीनन्दन खत्री जी का जन्म 18 जून 1861 (आषाढ़ कृष्णपक्ष सप्तमी संवत् 1918) शनिवार को बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के पूसा में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला ईश्वरदास था। उनके पूर्वज पंजाब के निवासी थे तथा मुगलों के राज्यकाल में ऊँचे पदों पर कार्य करते थे। महाराज रणजीत सिंह के पुत्र शेरसिंह के शासनकाल में लाला ईश्वरदास काशी में आकर बस गये। देवकीनन्दन खत्री जी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू-फारसी में हुई थी। बाद में उन्होंने हिंदी, संस्कृत एवं अंग्रेजी का भी अध्ययन किया।

आरम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वे गया के टेकारी इस्टेट पहुंच गए और वहां के राजा के यहां नौकरी कर ली। बाद में उन्होंने वाराणसी में 'लहरी प्रेस' ना से एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना की और 1900 में हिन्दी मासिक 'सुदर्शन' का प्रकाशन आरम्भ किया।

देवकीनन्दन खत्री जी का काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह से बहुत अच्छा सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध के आधार पर उन्होंने चकिया (उत्तर प्रदेश) और नौगढ़ के जंगलों के ठेके लिये। देवकीनन्दन खत्री जी बचपन से ही सैर-सपाटे के बहुत शौकीन थे। इस ठेकेदारी के काम से उन्हे पर्याप्त आय होने के साथ

ही साथ उनका सैर-सपाटे का शौक भी पूरा होता रहा। वे लगातार कई-कई दिनों तक चकिया एवं नौगढ़ के बीहड़ जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खंडहरों की खाक छानते रहते थे। कालान्तर में जब उनसे जंगलों के ठेके छिन गये तब इन्हीं जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खंडहरों की पृष्ठभूमि में अपनी तिलिस्म तथा ऐयारी के कारनामों की कल्पनाओं को मिश्रित कर उन्होंने चन्द्रकान्ता उपन्यास की रचना की।

बाबू देवकीनन्दन खत्री ने जब उपन्यास लिखना शुरू किया था, उस जमाने में अधिकतर लोग भी उर्दू भाषा भाषी ही थे। ऐसी परिस्थिति में खत्री जी का मुख्य लक्ष्य था ऐसी रचना करना जिससे देवनागरी हिन्दी का प्रचार-प्रसार हो। यह उतना आसान कार्य नहीं था, परन्तु उन्होंने ऐसा कर दिखाया। चन्द्रकान्ता उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि जो लोग हिन्दी लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे या उर्दूदाँ थे, उन्होंने केवल इस उपन्यास को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। इसी लोकप्रियता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इसी कथा को आगे बढ़ाते हुए दूसरा उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखा जो 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा कई गुणा रोचक था। इन उपन्यासों को पढ़ते वक्त लोग खाना-पीना भी भूल जाते थे। इन उपन्यासों की भाषा इतनी सरल है कि इन्हें पाँचवीं कक्षा के छात्र भी पढ़ लेते हैं। पहले दो उपन्यासों के 2000 पृष्ठ से अधिक होने पर भी एक भी क्षण ऐसा नहीं आता, जहाँ पाठक ऊब जाए।

व्यवसाय की शुरुआत

मुजफ्फरपुर देवकीनन्दन खत्रा के नाना-नानी का निवास स्थान था। आपके पिता 'लाला ईश्वरदास' अपनी युवावस्था में लाहौर से काशी आए थे और यहीं रहने लगे थे। देवकीनन्दन खत्री का विवाह मुजफ्फरपुर में हुआ था और गया जिले के टिकारी राज्य में अच्छा व्यवसाय था। आरंभिक शिक्षा समाप्त कर वे 'टेकारी इस्टेट' पहुँच गये और वहाँ के राजा के यहाँ कार्य करने लगे। बाद में उन्होंने वाराणसी में एक प्रिंटिंस प्रेस की स्थापना की और 1883 में हिन्दी मासिक पत्र 'सुदर्शन' को प्रारम्भ किया।

लेखन की प्रेरणा

कुछ दिनों बाद उन्होंने महाराज बनारस से चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठेका ले लिया था। इस कारण से देवकीनंदन की युवावस्था अधिकतर उक्त

जंगलों में ही बीती थी। देवकीनन्दन खत्री बचपन से ही घूमने के बहुत शौकीन थे। इस ठेकेदारी के कार्य से उन्हें पर्याप्त आय होने के साथ-साथ घूमने फिरने का शौक भी पूरा होता रहा। वह लगातार कई-कई दिनों तक चकिया एवं नौगढ़ के बीहड़ जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खंडहरों की खाक छानते रहते थे। बाद में जब उनसे जंगलों के ठेके वापिस ले लिए गये, तब इन्हीं जंगलों, पहाड़ियों और प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के खंडहरों की पृष्ठभूमि में अपनी तिलिस्म तथा ऐय्यारी के कारनामों की कल्पनाओं को मिश्रित कर उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की रचना की। इन्हीं जगंलों और उनके खंडहरों से देवकीनन्दन खत्री को प्रेरणा मिली थी, जिसने 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति', 'भूतनाथ' ऐसे ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासों की रचना कराई, जिसने आपको हिन्दी साहित्य में अमर बना दिया। आपके सभी उपन्यासों का सारा रचना तंत्र बिलकुल मौलिक और स्वतंत्र है। इस तिलस्मी तत्त्व में आपने अपने चातुर्य और बुद्धि-कौशल से ऐय्यारी वाला वह तत्त्व भी मिला दिया था, जो बहुत कुछ भारतीय ही है। यह परम प्रसिद्ध बात है कि 19वीं शताब्दी के अंत में लाखों पाठकों ने बहुत ही चाव और रुचि से आपके उपन्यास पढ़े और हजारों आदमियों ने केवल आपके उपन्यास पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। यही कारण है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक श्री वृंदावनलाल वर्मा ने आपको हिन्दी का 'शिराजी' कहा है।

चन्द्रकांता की रचना

बाबू देवकीनन्दन खत्री ने जब उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया, उस समय में अधिकतर हिन्दू लोग भी उर्दू भाषा ही जानते थे। इस प्रकार की परिस्थितियों में खत्री जी ने मुख्य लक्ष्य बनाया, ऐसी रचना करना, जिससे देवनागरी हिन्दी का प्रचार व प्रसार हो। यह इतना सरल कार्य नहीं था, किंतु उन्होंने ऐसा कर दिखाया। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि उस समय जो लोग हिन्दी लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे या केवल उर्दू भाषा ही जानते थे, उन्होंने केवल इस उपन्यास को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी इसी लोकप्रियता को ध्यान में रख कर उन्होंने इसी कथा को आगे बढ़ाते हुए दूसरा उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' लिखा, जो 'चन्द्रकान्ता' की अपेक्षा अधिक रोचक था। इन उपन्यासों को पढ़ते समय पाठक खाना-पीना भी भूल जाते थे। इन उपन्यासों की भाषा इतनी सरल है कि पाँचवीं कक्षा के छात्र भी इन पुस्तकों को पढ़ लेते हैं। पहले दो

उपन्यासों के 2000 पृष्ठ से अधिक होने पर भी, एक भी क्षण ऐसा नहीं आता, जहाँ पाठक ऊब जाएँ।

प्रमुख रचनाएँ

1. चन्द्रकान्ता (1888-1892)—चन्द्रकान्ता उपन्यास को पढ़ने के लिये लाखों लोगों ने हिन्दी सीखी। यह उपन्यास चार भागों में विभक्त है। पहला प्रसिद्ध उपन्यास चंद्रकांता सन् 1888 ई. में काशी में प्रकाशित हुआ था। उसके चारो भागों के कुछ ही दिनों में कई संस्करण हो गए थे।

2. चन्द्रकान्ता सन्तति (1894-1904)—चन्द्रकान्ता की अभूतपूर्व सफलता से प्रेरित हो कर देवकीनन्दन खत्री ने चौबीस भागों वाले विशाल उपन्यास चंद्रकान्ता सन्तति की रचना की। उनका यह उपन्यास भी अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

3. भूतनाथ (1907-1913) (अपूर्ण)—चन्द्रकान्ता सन्तति के एक पात्र को नायक बना कर देवकीनन्दन खत्री जी ने इस उपन्यास की रचना की, किन्तु असामायिक मृत्यु के कारण वह इस उपन्यास के केवल छह भागों ही लिख पाये। आगे के शेष पन्द्रह भाग उनके पुत्र 'दुर्गाप्रसाद खत्री' ने लिख कर पूरे किये। 'भूतनाथ' भी कथावस्तु की अन्तिम कड़ी नहीं है। इसके बाद बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री लिखित 'रोहतास मठ' (दो खंडों में) आता है।

अन्य रचनाएँ

1. कुसुम कुमारी।
2. वीरेन्द्र वीर उर्फ कटोरा भर खून।
3. काजर की कोठरी।
4. अनूठी बेगम।
5. नरेन्द्र मोहिनी।
6. गुप्त गोदना।

लहरी प्रेस

चंद्रकांता से उत्साहित होकर आपने चंद्रकांता संतति, लिखना आरंभ कर दिया, जिसके कुल 24 भाग हैं। दस वर्षो में ही बहुत अधिक कीर्ति और यश संपादित कर चुकने पर और अपनी रचनाओं का इतना अधिक प्रचार देखने पर

सन् 1898 ई में आपने-अपने निजी प्रेस की स्थापना की। आप सदा से स्वभावत: बहुत ही 'लहरी' अर्थात् मनमौजी और विनोदप्रिय थे। इसीलिए देवकीनन्दन खत्री ने अपने प्रेस का नाम भी 'लहरी प्रेस' रखा था। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में कई ऐय्यारों और पात्रों के जो नाम आए हैं वे सब आपने अपनी मित्रमंडली में से ही चुने थे और इस प्रकार उन्होंने अपने अनेक घनिष्ट मित्रों और संगी साथियों को अपनी रचनाओं के द्वारा अमर बना दिया था।

8

द्विवेदी युग की कविता

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था, उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं।

मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हैं।. ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरज कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह की एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान है, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और

गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रुपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वांग्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे– 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं, पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए

हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में Judicial Criticism और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना है कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के

लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें–महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा–सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है–मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी–नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास–लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया। सन् 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी–युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज–भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण–सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश–भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा–प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारणशृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा–काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी–बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश

त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएं प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।
रामचरित उपध्याय।
जगन्नाथ दास रत्नाकर।
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'।
श्रीधर पाठक।
राम नरेश त्रिपाठी।
मैथिलीशरण गुप्त।
लोचन प्रसाद पाण्डेय।
सियारामशरण गुप्त।
छायावादी युग की कविता (1920-1936)।

सन 1920 के आस-पास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई, परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

नामकरण

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही यह काल 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। इसे 'जागरण-सुधारकाल' भी कहा जाता है। इस समय ब्रिटिश दमन-चक्र बहुत बढ़ गया था। जनता में असंतोष और क्षोभ की भावना प्रबल थी। ब्रिटिश शासकों द्वारा लोगों का अर्थिक-शोषण भी चरम पर था। देश के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं द्वारा पूर्ण-स्वराज्य की मांग की जा रही थी। गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य गंगाधर तिलक जैसे नेता देश के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे। इस काल के साहित्यकारों ने न सिर्फ देश की दुर्दशा का चित्रण किया, बल्कि देशवासियों को आजादी की प्राप्ति की प्रेरणा भी दी। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ इस काल में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई।

द्विवेदीजी का योगदान

सन 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, 'श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बालमुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्णसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती' कहानी को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की 'दुलाई वाली', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा भी कुछ नाटक लिखे गए।

साहित्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण 'भारतेन्दु युग' है एवं दूसरा चरण 'द्विवेदी युग'। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिाका का लगातार अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान् कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

द्विवेदीजी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदीजी का अभिनंदन किया था। उनके सम्मान में 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' का प्रकाशन कर उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं–'मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ....शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरज: कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया?'

नाट्य साहित्य

'द्विवेदी युग' नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। इस काल में मौलिक नाटकों के सृजन में कमी आई। ऐसा लगता है कि नाटकीय गतिविधि धीरे-धीरे काफी कम हो गई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जो नाटक मंडलियाँ थीं, वे व्यावसायिक तो थीं नहीं, इसलिए समय के साथ वे काल के गाल में समा गईं। इस युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं उच्च कोटि के अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यवसायिक रंगमंच को फिर से जिन्दा करने की कोशिश की। बात 1908 की है, जब उन्होंने इलाहाबाद की रामलीला नाटक मंडली को झाड़-पोछ कर सुरुचि सम्पन्न लोगों की पसंद लायक बनाया। यहाँ से कई नवजागरण का संदेश देने वाले नाटकों का मंचन हुआ। राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत किया गया।

द्विवेदी युगीन प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

भारतेन्दु युग से हिंदी कविताशृंगारिकता से राष्ट्रीयता, रूढि से स्वच्छंदता और जड़ता से प्रगति की ओर अग्रसर करने का जो प्रयत्न प्रारंभ हुआ था, द्विवेदी-युग को उसे और आगे बढ़ाने का श्रेय है। इस काल खंड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम

पर इसका नाम द्विवेदी युग सर्वथा उचित है। इस युग का आरंभ 'सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन सन् 1900 से माना जाता है। इसे जागरण सुधार-काल भी कहा जाता है। भारतीय इतिहास में इस समय ब्रिटिश शासन का दमन-चक्र पूरे जोरों पर था। सन 1857 के विद्रोह के बाद, महारानी विक्टोरिया द्वारा किए गए (सहृदयतापूर्वक) घोषणा-पत्र से भारतीय जनता आशानिवत हो गई थी, जो थोड़े बहुत सुधार हुए, उन्हीं के कारण भारतेन्दु युग में अंग्रेजों का प्रशसित-गान किया गया, पर यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रही। अनेक काले कानून पास हुए और शासक-वर्ग की असलियत सामने आते ही जनता में क्षोभ और असंतोष बढ़ता गया। देश का कच्चा माल बाहर भेजने की नीति आदि के साथ-साथ, एक के बाद एक पड़ने वाले दुभिक्षों से जनता लगातार पिसने लगी। ऐसी स्थिति में गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक जैसे मेघावी नेताओं ने 'स्वराज्य को 'जन्मसिद्ध अधिकार घोषित कर जनता को उनके अधिकारों के प्रति सजग कराने का क्रांतिकारी प्रयास किया।

9

उत्तर-छायावाद युग

छायावाद हिंदी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह काव्य-धारा है, जो लगभग ई.स. 1918 से 1936 तक की प्रमुख युगवाणी रही।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानदन पंत, महादेवी वर्मा इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। छायावाद नामकरण का श्रेय मुकुटधर पाण्डेय को जाता है।

मुकुटधर पाण्डेय ने श्री शारदा पत्रिका में एक निबंध प्रकाशित किया, जिस निबंध में उन्होंने छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोग किया। कृति प्रेम, नारी प्रेम, मानवीकरण, सांस्कृतिक जागरण, कल्पना की प्रधानता आदि छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। छायावाद ने हिंदी में खड़ी बोली कविता को पूर्णत: प्रतिष्ठित कर दिया। इसके बाद ब्रजभाषा हिंदी काव्य धारा से बाहर हो गई। इसने हिंदी को नए शब्द, प्रतीक तथा प्रतिबिंब दिए। इसके प्रभाव से इस दौर की गद्य की भाषा भी समृद्ध हुई। इसे 'साहित्यिक खड़ीबोली का स्वर्णयुग' कहा जाता है।

छायावाद के नामकरण का श्रेय 'मुकुटधर पांडेय' को दिया जाता है। इन्होंने सर्वप्रथम 1920 ई में जबलपुर से प्रकाशित श्रीशारदा (जबलपुर) पत्रिका में 'हिंदी में छायावाद' नामक चार निबंधों की एक लेखमाला प्रकाशित करवाई थी। मुकुटधर पांडेय जी द्वारा रचित कविता 'कुररी के प्रति' छायावाद की प्रथम कविता मानी जाती है।छायावादी काव्य सांस्कृतिक नवजागरण लेकर आया था, किन्तु सन् 1930 के बाद से उसमें परिवर्तन के कुछ लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे. वस्तुत: 'उत्तर छायावाद' नाम से जिस काव्य प्रवृत्ति को रेखांकित किया जाता

है वह एक अल्पकालिक काव्य प्रवृत्ति रही है। उसका कार्य छायावादी काव्य को बदलना तथा एक जागृत युग की पृष्ठभूमि तैयार करना था। यूँ तो जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इस आशय के प्रयास सन् '30 से ही दृष्टिगोचर हो रहे थे, तथापि सन् '34 और सन् '37 के बीच इस वर्ग के कवियों ने छायावाद विरोधी पृष्ठभूमि तैयार कर ली थी. एक ओर कामायनी के माध्यम से छायावाद ने अपनी मानसिक योजनाओं को साकार कर संभावनाओं को निःशेष कर दिया था। दूसरी ओर पंत ने युगांत की घोषणा कर दी थी, इस घोषणा को ऊँचे स्वर में पहले से ही परिवर्तन के लिए कटिबद्धता मध्यवर्गीय कवियों ने ग्रहण किया। सन् '34 में आचार्य नरेन्द्र देव के सभापतित्त्व में काँग्रेस में समाजवादी दल की स्थापना और 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना जैसे राजनीतिक और साहित्यिक संगठनों से कवियों को पर्याप्त शक्ति मिली।

उत्तर-छायावाद काल के कवियों में हरिवंशराय बच्चन, अंचल, नरेन्द्र, आरसीप्रसाद सिंह और भगवतीचरण वर्मा की गिनती की जाती है। इनके अतिरिक्त 'दिनकर' और 'सुमन' आदि के आरंभिक काव्य में भी ये प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, ये कवि मूलतः गीतकार हैं, अपनी मांसल, शरीरी वासनाओं और सामाजिक वर्जनाओं के कारण पलायन की अनुभूति को प्रत्यक्षतः व्यक्त करते हुए अभिव्यक्ति को अनलंकृत करने में और नवीनता की आवश्यकता को इन कवियों ने साकार किया है। उत्तर छायावादी कवि सीधे, सरल और ईमानदारी से अपनी अनुभूति का प्रकाशन करने लगे, इन्होंने जो कुछ अनुभव किया, उसमें से बहुत कुछ छायावादी ढंग का भी था, पर उनके कहने की पद्धति में अंतर स्पष्ट था। इनकी काव्य यात्रा में छायावाद के चिह्न आवरणहीन होकर और प्रगतिवादी साहित्य की सूचना दिखाई देती है। आवरण को हटाने के लोभ में वे कहीं-कहीं इतने नंगे हो गये कि रीतिकालीन साहित्य की एक दिशा का आभास होने लगा, उनका आरंभिक काल प्रणय के स्पष्ट, स्थूल और शरीरी रूप को व्यक्त करता है। वैयक्तिक जीवन में प्रणय-तुष्टि की इनका लक्ष्य रहने के कारण काव्य में अतृप्ति, निराशा तथा क्षोभ का वातावरण तैयार हो गया, कभी

इस पार प्रिये मधु है, तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा
और कभी
यदि मुझे उस पार में भी मिलन का विश्वास होता
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय व निरूपाय होता,

की विविध आशा-निराशा के द्वन्द्व की भूमिकाएँ इन कवियों के वैचारिक जगत को आन्दोलित करती रही. इनका काव्य इस दिशा में उत्तरोत्तर नग्न होता गया। जीवन के विकास में जिन प्रतिमानों को नकारा गया है, इन कवियों ने उन्हें पर्याप्त स्वीकृति दी।

उत्तर छायावाद के जन्म का कारण खोजते समय प्रायः यह कहा गया है कि वह छायावाद की परम्परा से कटकर आया, वस्तुतः ऐसा कहना अति सरलीकरण होगा। यह छायावाद का ही विकास था, अपने ढंग से, जिसे कुछ लोग संक्रांतिकाल भी कहते हैं, उत्तर छायावाद में सौन्दर्योपासना, मानवता के प्रति आस्था, नारी-प्रेम, भक्ति और अराधना आदि बिन्दु समान है। बदली है तो अभिव्यंजना प्रणाली। अस्तु छायावाद की प्रतिक्रिया में इस नये साहित्य ने जन्म तो अवश्य लिया, परन्तु मूल्यों की उपलब्धि की दृष्टि से इसका उतना महत्त्व नहीं है। प्रसाद-पंत-निराला के समानधर्मी कवि इस वर्ग में न आ सके।

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की कविता पर प डॉ. द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षतःराष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं--

माखनलाल चतुर्वेदी।
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
सुभद्रा कुमारी चौहान।
रामधारी सिंह 'दिनकर'
हरिवंश राय 'बच्चन'
भगवतीचरण वर्मा।
नरेन्द्र शर्मा।
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
शिवमंगल सिंह 'सुमन'
नागार्जुन।
केदारनाथ अग्रवाल।
त्रिलोचन।
रांगेयराघव।

उत्तरछायावाद की काव्य प्रवृत्तियाँ

1. वैयक्तिक अभावों की सहज स्वीकृति

इस युग के कवियों ने अपने ही नहीं समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अभावों को समझा और नैतिक बंधनों को तोड़कर तद्रूपता के साथ व्यक्त किया। बच्चन ने खैयाम की मधुशाला की भूमिका में लिखा है।

मानव को जीवन में जब अधिक निराशा और दु:ख मिलेगा तो यह स्वाभाविक है कि यदि उसे आनंद का एक क्षण भी मिले तो वह विगत और आगत की चिंता छोड़कर उसका उपभोग करे।

नरेन्द्र, बच्चन और अंचल में यही जीवन-दृष्टि दिखाई पड़ती है।

2. जीवन संघर्ष से पलायन

छायावादी कवियों को भी पलायनवादी कहा जाता था और इन्हें भी. किन्तु दोनों में अंतर यह है कि छायावादी कवियों ने समाज के साथ अपने बाह्य संबंधों की अपेक्षा अंत: संबंध स्थापित किये, जबकि इन कवियों का पलायन एक प्रकार से विषम समाज के प्रति नकार और अस्वीकार का था। वे अपने संघर्ष और पराजय को भूलने के लिए मस्ती, मादकता और बेसुधी का वातावरण तैयार करते हैं।

3. शरीरी भोग एवं ऐन्द्रिकता

उत्तर छायावादी कवि अपनी वासनात्मक तुष्टि को सामाजिक हेय की वस्तु नहीं रहने देना चाहते, आलिंगन और चुंबन जैसी रति-क्रिड़ाओं को व्यक्त करने में इन्हें कोई संकोच नहीं:

तब से मना मना हारेंगे वारेंगे वारेंगे लाखों मधु चुंबन
''''

आ जाओ, आ मेरे समीप सम्पूर्ण नग्न, एकान्त नग्न

4. ईश्वर के प्रति विरोध की भावना

इन कवियों ने ऐसे ईश्वर के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त की है, जो लोककल्याणकारी और समदर्शी नहीं है। हालांकि इन कवियों की परवर्ती

रचनाओं में ईश्वर के प्रति आस्था भी व्यक्त की गई है। बच्चन मठ, मंदिर, मस्जिद और गिरजाघर को पराजय के स्मारक मानते हैं।

मनुज पराजय के स्मारक हैं, मठ, मस्जिद, गिरजाघर

नरेन्द्र, आरसी और अंचल के काव्य में ईश्वर का तिरस्कार किया गया है।

5. सक्रिय जीवन शक्ति का अभाव

उत्तरछायावादी कवि ईश्वर-विरोधी और प्रकृत शक्तियों के प्रति निष्ठावान होते हुए भी निष्क्रिय और नियतिवादी हो गए थे, वे अपनी प्रिया की गोद में सोकर जगत के आवागमन से मुक्ति चाहते हैं, ये कवि नियति के अत्याचारों यथार्थ चितेरे होते हुए भी परवर्ती काल में उसके प्रशंसक हो जाते हैं. बच्चन ने लिखा है।

हम जिस क्षण में जो करते हैं।
हम बाध्य वही हैं करने को।

6. समाज से संघर्ष का द्वन्द्व

प्रकृतवादियों की भाँति ये कवि इन्द्रिय भोगों पर विश्वास करते थे और जीवन की क्षणभंगुरता में आस्था रखते थे, साथ ही अपने सिवाय और भी कुछ है, जिस पर मैं निर्भर हूँ।

मेरी प्यास हो न हो जब को मैं प्यासा निर्झर हूँ।

कहकर जगत और अज्ञात शक्ति पर निष्ठा रखना इन कवियों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य था। ये समाज से कटकर जीने को अभिशप्त थे, हालांकि इनके यहाँ अपनी आत्मलीनता से बाहर आने की छटपटाहट भी है। बच्चन ने लिखा:

अपने से बाहर निकल देख

है विश्व खड़ा बाहें पसार।

7. सहज सरल अभिव्यक्ति प्रणाली

उत्तरछायावादी कवि शास्त्रीय काव्य का सृजन नहीं करतेै, उनकी सृजनशक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु भावावेश है। वस्तुत: गीत काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं से इनकी रचना आपूरित है। इनमें काव्य कौशल और रचना नैपुण्य का अभाव है। इनमें एक सुनिश्चित जीवन दर्शन का अभाव रहा है, जिसके आधार पर आगामी युगों के लिए कोई संदेश दे पाते।

10

प्रगतिवादी युग की कविता

सन 1936 के आस-पास काव्य लेखन के क्षेत्र में बहुत अमूल चूल परिवर्तन हुए, इन परिवर्तनों के फलस्वरूप कविता के नए स्वरूप का आगमन हमारे सम्मुख हुआ, जिसे प्रगतिवादी कवितायँ और हिंदी साहित्य में इस युग को प्रगतिवादी युग कहा जाता है। प्रगतिवाद की कविताओं ने जीवन को यथार्थ से जोड़ा। प्रगतिवादी युग के अधिकांश कवि कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

प्रगतिवादी कवियों को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में उन काव्य लेखकों को सम्मिलित किया गया मूल रूप से पूर्ववर्ती काव्यधारा छायावाद से सम्बंधित हैं, दूसरी श्रेणी में वे कवि हैं जो मूल रूप से प्रगतिवादी कवि हैं और तृतीय श्रेणी में वे कवि हैं, जिन्होंने अपनी काव्य-साधना प्रगतिवादी कविताओं से शुरु की परन्तु बाद में उन्होंने प्रयोगवादी या नई प्रकार की कविताओं की ओर अपने काव्य को सृजित किया।

प्रगतिवादी धारा में समाज के शोषित वर्ग, मजदूर एवं किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी, इसके साथ साथ धार्मिक रूढ़ियों, उंच नीच की भावना और सामाजिक विषमताओं पर चोट की गयी। इस युग में हिंदी कविता एक बार फिर किसानों, मजदूर, खेतों और खलिहानों से जुड़ी। छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन-जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरुध्द जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिछाया हिंदी कविता पर भी

पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई, इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नयी कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रखा जाता है।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का उदय

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का आरंभ 1936 के आस-पास माना जाता है, परंतु कविता के प्रगतिवादी तत्त्वों का समावेश कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसके अंकुर आधुनिक काल के आरंभ में ही भारतेंदु युग से फूटने लगे थे। ब्रिटिश राज्य की जनविरोधी नीतियों, उनके अत्याचारों के परिणामस्वरूप लोगों का ध्यान देश की दुर्दशा और उसके मूल कारणों की ओर आकृष्ट हुआ। नवजागरण के प्रभाव से भी इस दुर्दशा के मूल कारणों की पड़ताल की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अशिक्षा, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, संप्रदायवाद को प्रगति विरोधी माना जाने लगा। विदेशी दासता से मुक्त पिने की छटपटाहट जोर पकड़ने लगी। अनेक राजनैतिक-सामजिक संस्थाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने देश की दशा सुधारने और उसे अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चंगुल से निकलने के प्रयास किये। महात्मा गाँधी के प्रभाव से दबे-कुचले हरिजनों के प्रति भी सहानुभूति का भाव उदय हुआ। इन सभी स्थितियों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य में किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। भारतेंदु और द्विवेदी युग की रचनाओं में जाति और धर्म के बंधनों के प्रति प्रश्नचिहन लगने लगे थे, क्योंकि इन्हीं के कारण देश अनेक वर्गों में बँट गया था, कमजोर हो गया था और समाज का एक बड़ा वर्ग उपेक्षा और अत्याचार सहने को विवश था। हिन्दी में छायावाद युग में साहित्य में प्रेम-विरह की निजी अनुभूतियों, स्वप्नों, रहस्यों को प्रधानता दी गयी। लगभग इसी समय में यूरोप में रह रहे भारतीय साहित्यकारों ने लंदन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। उन्होंने अपने परिपत्र में रुढ़िवादी, जड़तावादी, परंपरावादी विचारों से समाज को मुक्त कराने पर बल दिया। उन्होंने देश की सामाजिक-आर्थिक अवनति के मूल कारणों को पहचानने पर बल दिया और कहा कि साहित्यकारों को कल्पना-लोक से बाहर

निकल कर यथार्थ की भूमि पर खड़े होना होगा। इस संघ पर मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, जो वंचितों शेषितों और किसान-मजदूरों का पक्षधर था। सन 1936 में लखनऊ में इस संघ की बैठक हुई, जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी। इस नवीन चेतना और प्रगतिशील लेखक-संघ की इस बैठक का प्रभाव हिंदी लेखकों-कवियों पर व्यापक रूप से हुआ। छायावाद के प्रमुख स्तंभ माने जाने वाले सुमित्रानंद पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला की रचनाओं में यह परिवर्तन स्पष्ट देखा जा सकता हैं। प्रकृति के सुकुमार कवि पंत 'रूपाम के संपादकीय में लिखते हैं– "इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। अतएवं इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती, उसकी जड़ों को पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर आश्रय लेना पड़ रहा है। 'जुही की कली और संध्या सुंदरी के रचयिता निराला जी 'विधवा, 'वह तोड़ती पत्थर, 'कुकुरमुत्ता और 'गुलाब जैसी कविताएँ लिखने लगते हैं। सन 1936 से आरंभ हुआ प्रगतिवाद का यह दौर सन 1950 के लगभग तक माना जाता है। उसके बाद प्रगतिवाद आंदोलन के रूप में भले ही न रहा हो, किंतु उसके द्वारा स्थापित मूल्य परवर्ती कविता में भी किसी न किसी रूप में विध्मान हैं। मुक्तिबोध, नागार्जुन, धूमिल, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल आदि अनेक कवियों की रचनाओं में यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

प्रगतिवादी काव्यधारा की प्रमुख प्रवत्तियाँ

1. शोषक शक्तियों की पहचान और उनका विरोध -

प्रगतिवाद में देश और समाज की आर्थिक-सामाजिक अवनति के मूल कारणों की पड़ताल पर जोर दिया गया। भारतीय संदर्भों में सामंतवाद, पूँजीवाद, सेठ, साहूकार, जमींदार, शासन तंत्र को शोषक तंत्र के रूप में प्रस्तुत करने वाले अधिकारी, पटवारी, पुलिस, पंडे-पुजारी आदि उन सभी वर्गों के प्रति आक्रोश का भाव मिलता है, जो निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए कभी परंपरा के नाम पर और कभी शासन के नाम पर निरीह जनता को अपने अत्याचारों का शिकार बनाते हैं। प्रगतिवादी कविता ने स्वर्ग और ईश्वर की कल्पना से दूर हट कर ठोस यथार्थ पर पांव रखने और मानवता के वास्तविक शत्रुओं के विरोध का स्वर बुलंद किया-

ताक रहे हो गगन-मृत्यु नीलिमा गहन गगन,
देखों भू को-जीव प्रसू को। -पंत।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन कवियों से ऐसी कविता सुनाने का आग्रह करते हैं जो इस गली, सड़ी व्यवस्था को बदलने के प्रति जागृति उत्पन्न कर सके- कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए।

2. मानववाद के प्रति आस्था -

प्रगतिवादी विचारधारा में ऐसे समाज की स्थापना पर बल दिया गया है, जिसमें मनुष्य को विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो सकें। वह अपनी शक्त और सामर्थ्य का सही उपयोग कर समाज के निर्माण और विकास में सहयोग कर सके। इसीलिए प्रगतिवाद में मानव का महत्त्व सर्वोपरि है–

सुंदर है विहग, सुमन सुंदर
मानव तुम सबसे सुंदरतम।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद-दोनों ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास में बाधक हैं, अतएव मानव-विरोधी हैं। जो व्यवस्था धन और शक्ति के मुट्टी भर लोगों के हाथों को मजबूत करने में विश्वास रखती हो और साधारण जन को उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं से भी वंचित कर देती हो, उनके व्यक्तितव के विकास को रोकती हो, उन्हें पशुओं से भी बदतर जीवन जीने पर विवश करती हो, प्रगतिवाद उस मानव-विरोधी व्यवस्था का विरोध करता है।

3. शोषण का विरोध और समानता पर बल

जैसाकि अभी कहा प्रगतिवाद मानववाद का समर्थन करता है और धन तथा सत्ता के केन्द्रीकरण का विरोध करता है। इसी क्रम में यह बात भी समझनी आवश्यक है कि प्रगतिवादी विचारधारा शोषण का विरोध करती है और शोषण के शिकार गरीब-असहाय वंचित जनों के प्रति सहानुभूति रखती है। प्रगतिवाद में उस मानसिकता और व्यवस्था का विरोध है, जो स्वयं परिश्रम नहीं करते किंतु गरीब मजदूरों के परिश्रम के बल पर अपनी तिजोरियाँ भर लेना चाहते हैं, जो आम जनता को पद-दलित कर अपना वर्चस्व और राजसिंहासन बनाये रखना चाहते हैं और जो लोग अपने श्रम से इस समाज को सुखी-समृद्ध बनाने में सर्वाधिक योग देते हें वे अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाते। निराला जी ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं और विशाल प्रासादों में रहने वाले धनिकों को

अपने काव्य का विषय नहीं बनाते, बल्कि इलाहाबाद के राजमार्ग पर पत्थर तोड़ती गरीब मजदूर स्त्री को काव्य का विषय बनाते हैं–

श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन प्रिय कर्म-रत-तन,
गुरू हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार,
सामने तरु मालिका, अट्टालिका, प्रकार,

4. धर्म और इश्वर के प्रति अनास्था -

विश्व के प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज में धर्म और इश्वर की उपस्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य रही है, किंतु प्रगतिवाद में इनके प्रति कोइ आस्था नहीं। इसका कारण यही है कि धर्म और इश्वर के नाम पर लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना आरंभ कर दिया, स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरों को हीन समझने लगे, धर्म के नाम पर अनेक युद्ध हुए। जिस धर्म की स्थापना समाज को सँभालने के उद्देश्य से हुइ थी, उसी धर्म के नाम पर लोगों को बाँटा जाने लगा। धर्म के नाम पर ढोंग, पाखंड और अंधविश्वासों को बढ़ावा मिलने लगा। धर्म व्यवसाय बन गया। प्रगतिवाद में इसीलिए धर्म और इश्वर के प्रति अनास्था का भाव दिखाइ देता है। नवीन जी लिखते हैं–

है कितनी-कितनी विडंबना इनमें, हाय यहाँ कितनी अक्षमता,
इन पर छाये पीर, कब्र, सब भूत.प्रेत.पीतल और पत्थर,
एक छींक से ही होते हैं ये मानव सभीत अति सत्वर।
ऐसा ही एक और उदाहरण प्रस्तुत है–
हर पत्थर भगवान यहाँ का हर पंडा पैगंबर है,
गाय यहाँ माता बन पुजती, अब बकरी का नंबर है,
यह ऋषियों का देश घुली है भंग यहाँ के पानी में,
नरकों का मनहूस बुढ़ापा मिलता भरी जवानी में।

11

प्रयोगवाद एवं नयी कविता युग

नयी कविता हिन्दी साहित्य में सन् 1951 के बाद की उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह प्रयोगवाद के बाद विकसित हुई हिन्दी कविता की नवीन धारा है। नयी कविता अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट है।दूसरे विश्वयुध्द के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ, ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है। दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नयी कविता नयी रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय।
गिरिजाकुमार माथुर।
प्रभाकर माचवे।
भारतभूषण अग्रवाल।
मुक्तिबोध।
शमशेर बहादुर सिंह।
धर्मवीर भारती।
नरेश मेहता।

रघुवीर सहाय।
जगदीश गुप्त।
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।
कुंवर नारायण।
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएं प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएं हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

प्रयोगवादी कविता की प्रवृत्तियां

1. समसामयिक जीवन का यथार्थ चित्रण

प्रयोगवादी कविता की भाव-वस्तु समसामयिक वस्तुओं और व्यापारों से उपजी है। रिक्शों के भोंपू की आवाज, लाउड स्पीकर का चीत्कार, मशीन के अलार्म की चीख, रेल के इंजन की सीटी आदि की यथावत अभिव्यक्ति इस कविता में मिलेगी। नलिन विलोचन शर्मा ने बंसत वर्णन के प्रसंग में लाउड स्पीकर को अंकित किया। प्रत्युष-वर्णन में उन्होंने रिक्शों के भोंपू की आवाज का उल्लेख किया। एक अन्य स्थल पर रेल के इंजन की ध्वनि का उल्लेख हुआ। मदन वात्स्यायन ने कारखानों में चलने वाली मशीनों की ध्वनि का ज्यों का त्यों उल्लेख किया है। समसामयिकता के प्रति इनका इतना अधिक मोह है कि इन कवियों ने उपमान तथा बिम्बों का चयन भी समसामयिक युग के विभिन्न उपकरणों से किया है। भारत भूषण अग्रवाल ने लाउड स्पीकर तथा टाइपराइटर को उपमान के रूप प्रस्तुत किया। रघुवीर सहाय ने भी पहिये और सिनेमा की रील के उपमानों को ग्रहण किया है। केसरी कुमार ने व्यावसायिक जीवन के उपमानों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार चिकित्सा तथा रसायन-शास्त्र से अनेकों उपमान प्रयोगवादी कवियों ने ग्रहण किए हैं। गिरिजाकुमार माथुर की हब्श देश

नामक कविता की निम्न पंक्तियां देखिए जिनमें औद्योगिक और रासायनिक युग को वाणी प्रदान की गई है–

उगल रही हैं खानें सोना,
अभ्रक, तांबा, जस्त, क्रोनियम,
टीन, कोयला, लौह, प्लेटिनम,
युरेनियम, अनमोल रसायन,
कोपेक, सिल्क, कपास, अन्न-धन,
द्रव्य फोसफैटो से पूरित!

2. घोर अहंनिष्ठ वैयक्तिकता

प्रयोगवादी कवि समाज-चित्रण की अपेक्षा वैयक्तिक कुरूपता का प्रकाशन करके समाज के मध्यमवर्गीय मानव की दुर्बलता का प्रकाशन करता है। मन की नग्न एवं अश्लील वृत्तियों का चित्रण करता है। अपनी असामाजिक एवं अहंवादी प्रकृति के अनुरूप मानव जगत के लघु और क्षुद्र प्राणियों को काव्य में स्थान देता है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की प्रतिष्ठा करता है। कवि के मन की स्थिति, अनुभूति, विचारधारा तथा मान्यता इस कविता में विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है। व्यक्ति का केवल सामाजिक अस्तित्त्व ही नहीं है, बल्कि उसकी अपनी भावनाओं का भी एक संसार है। इसलिए इस कविता में अधिक ईमानदारी के साथ कवि के निजी दर्द अभिव्यक्त हुए हैं।

मेरी अंतरात्मा का यह उद्वेलन-
जो तुम्हें और तुम्हें और तुम्हें देखता है
और अभिव्यक्ति के लिए तड़प उठता है–
यही है मेरी स्थिति, यही मेरी शक्ति।

.....

चलो उठें अब
अब तक हम थे बंधु
सैर को आए-
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने (अज्ञेय)।

3. विद्रोह का स्वर

इस कविता में विद्रोह का स्वर एक ओर समाज और परम्परा से अलग होने के रूप में मिलता है और दूसरी ओर आत्मशक्ति के उद्-घोष रूप में। परम्परा और रूढ़ि से मुक्ति पाने के लिए भवानी प्रसाद मिश्र कहते हैं–

ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियां हैं
पांव रखकर बढ़ रहीं जिस पर कि अपनी पीढ़ियां हैं
बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे।

विद्रोह का दूसरा रूप चुनौती और ध्वंस की बलवती अभिव्यक्ति के रूप में मिलता है। भारत भूषण अग्रवाल में स्वयं का ज्ञान अधिक प्रबल हो उठा कि वे नियति को संघर्ष की चुनौती देते हुए कहते हैं–

मैं छोड़कर पूजा
क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार-
बांधकर मुट्ठी तुझे ललकारता हूं,
सुन रही है तू?
मैं खड़ा यहां तुझको पुकारता हूं।

आततायी सामाजिक परिवेश को चुनौती देते हुए अज्ञेय कहते हैं।

ठहर-ठहर आततायी! जरा सुन ले,
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन ले।

वैज्ञानिक युग ने उसे पुराने चरित्रों के प्रति शंकित किया है, इसलिए वह उनके प्रति कोई श्रद्धा नहीं रखता। इस कविता के कवि को ईश्वर, नियति, मंदिर, दैवी-व्यक्तियों एवं स्थानों में विश्वास नहीं है। वह स्वर्ग और नरक का अस्तित्त्व नहीं मानता। भारत भूषण अग्रवाल की निम्न पंक्तियां देखिए-

रात मैंने एक स्वपन देखा,
मैंने देखा,
कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई,
और विश्वामित्र ट्यूशन कर रहें हैं,
उर्वशी ने डांस स्कूल खोल लिया है,
गणेश टॉफी खा रहे हैं।

4. लघु मानव की प्रतिष्ठा

प्रयोगवादी काव्य में लघु मानव की ऐसी धारणा को स्थापित किया गया है, जो इतिहास की गति को अप्रत्याशित मोड़ दे सकने की क्षमता रखता है, धर्मवीर भारती की ये पंक्तियां देखिए–

मैं रथ का टूटा पहिया हूं,
लेकिन मुझे फेंको मत,
इतिहासों की सामूहिक गति,
सहसा झूठी पड़ जाने पर,
क्या जाने,
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले,

इस कविता में मानव के लघु व्यक्तित्त्व की उस शक्ति पर गौरव तथा अभिमान अभिव्यक्त हुआ है, जो व्यक्ति की महत्ता की चरम सीमा का स्पर्श करती है।

5. अनास्थावादी तथा संशयात्मक स्वर

डॉ. शंभूनाथ चतुर्वेदी ने अनास्थामूलक प्रयोगवादी काव्य के दो पक्ष स्वीकार किए हैं। एक आस्था और अनास्था की द्वंद्वमयी अभिव्यक्ति, जो वस्तुतः निराशा और संशयात्मक दृष्टिकोण का संकेत करती है। दूसरी, नितांत हताशापूर्ण मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति।

कुंठा एक अनास्थामूलक वृत्ति है। प्रयोगवादी कवि अपनी कुंठाओं और वासनाओं को छिपाने में विश्वास नहीं रखता, इसलिए वह इनका नग्न रूप प्रस्तुत कर देता है। धर्मवीर भारती की निम्नांकित की पंक्तियां देखिए:

अपनी कुंठाओं की
दीवारों में बंदी
मैं घुटता हूं।

प्रयोगवादी कविता में पस्ती, पराजय और अविश्वास की अभिव्यक्ति के रूप में भी अनास्था को प्रमुख स्थान मिला है। विजयदेव नारायण साही ने भी व्यक्ति या समाज को आक्रांत करने वाली अनास्था का भी स्पष्ट प्रकाशन किया है, और संपूर्ण समाज अथवा व्यक्ति विशेष से अनास्था के तत्त्वों को ग्रहण करने का भी संदेश दिया है–

हर आंसू कायरता की खीझ नहीं होता
बाहर आओ,
सब साथ मिलकर रोओ।

6. आस्था तथा भविष्य के प्रति विश्वास–

जहां प्रयोगवाद के कुछ कवियों ने अनास्थावादी और संशयात्मकता को स्वर दिए वहीं कुछ अन्य कवियों ने जैसे नरेश मेहता तथा रघुवीर सहाय ने काव्य में अनास्थामूलक तत्त्वों को अनावश्यक पाया। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में आस्था के बल पर नव-निर्माण का स्वर मुखरित हुआ है। हरिनारायण व्यास तथा नरेश मेहता में भी आस्थामूलक वृत्तियों के प्रति आग्रह है। आस्था का पहला रूप पुरोगामी संकल्प का सूचक है। अज्ञेय की कुछ कविताओं में भी आस्था की सफल अभिव्यक्ति हुई है–

मैं आस्था हूं,
तो मैं निरंतर उठते रहने की शक्ति हूं,
... ...
जो मेरा कर्म है, उसमें मुझे संशय का नाम नहीं,
वह मेरी अपनी सांस-सा पहचाना है।

आस्था के दूसरे रूप में सर्जन-शक्ति अथवा कर्म-निष्ठा की भावना रहती है। अन्यत्र अज्ञेय ने आस्था के माध्यम से पूर्णता के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित होने की बात का संकेत किया है–

आस्था न कांपे, मानव फिर मिट्टी का भी देवता हो जाता है।

7. वेदना की अनुभूति का प्रयोग

प्रयोगवादी कवि वेदना से पालायन न करके, उसके सान्निध्य की अभिलाषा करते हैं। इसे उसने दो रूपों में स्वीकार किया है–एक तो वेदना को सहन करने की लालसा और दूसरे वेदना या पीड़ा की अतल गहराइयों में बैठ कर नए अर्थ की उपलब्धि के रूप में। भारत भूषण अग्रवाल वेदना को उत्साहवर्धिनी मानते हैं।

पर न हिम्मत हार,
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप,
ढाल उसमें शक्ति अपनी,
लौ उठा।

मुक्तिबोध की मान्यता है कि वेदना अथवा पीड़ा के अवशेष मानव की संघर्ष-शक्ति को उभारते हैं।

8.समष्टि कल्याण की भावना

इस कविता में व्यष्टि के सुख की अपेक्षा समष्टि के कल्याण को अधिक महत्त्व दिया गया है। रघुवीर सहाय सूर्य से धरती के जीवन को मंगलमय बनाने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं।

आओ स्वीकार निमंत्रण यह करो,
ताकि, ओ सूर्य, ओ पिता जीवन के,
तुम उसे प्यार से वरदान कोई दे जाओ,
जिससे भर जाये दूध से पृथ्वी का आंचल,
जिससे इस दिन उनके पुत्रों के लिए मंगल हो।

समष्टि हित के लिए कवि अपने व्यक्तिवाद तथा अहं का विसर्जन करने को भी तत्पर है। अज्ञेय का अकेला मदमाता दीपक अहं का प्रतीक है। उसे वे पंक्ति को समर्पित करने के लिए कहते हैं–

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर,
इसको भी पंक्ति को दे दो।

9.वासना की नग्न अभिव्यक्ति

छायावादी कल्पना में प्रकृति के अनेक रूप-रंगों का चित्रण था, प्रगतिवाद की कविता में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति रही तो प्रयोगवादी कविता में फ्रायड के मनोविश्लेषण के प्रभाव से नग्न यथार्थवाद का चित्रण इस कविता में हुआ। इस में साधनात्मक प्रेम का अभाव है मांसल प्रेम एवं दमित वासना की अभिव्यक्ति ही अधिक हुई है। प्रयोगवादी कवि अपनी ईमानदारी अपनी यौनवर्जनाओं के चित्रण में प्रदर्शित करता है। जब वह ऐसा करता है तो सेक्स को समस्त मानव प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का केंद्र-बिंदु मानता है। कुंवरनारायण ने यौनाशय को अत्यधिक महत्त्व दिया–

आमाशय।
यौनाशय।
गर्भाशय।

जिसकी जिंदगी का यही आशय।
यहीं इतना भोग्य।
कितना सुखी है वह।
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।

धर्मवीर भारती ने तो संभोग-दशा का स्पष्ट चित्र ही उतार दिया है–

मैंने कसकर तुम्हें जकड़ लिया है,
और जकड़ती जा रही हूंऔर निकट, और निकट,
... ...
और तुम्हारे कंधो पर, बांहों पर, होठों पर
नागवधू की शुभ्र दंत-पंक्तियों के,
नीले-नीले चिऋउभर आये हैं––

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए––

नंगी धूप, चूमते पुष्ट वक्ष,
दूधिया बांहें रसती केसर-फूल,
चौड़े कर्पूरी कूल्हों से दबती,
सोफे की एसवर्गी चादर,
रेशम जांघों से उकसीं,
टांगों की चंदन डालें

10. क्षण की अनुभुति

प्रयोगवादी कविता में क्षण विशेष की अनुभूति को यथारूप प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। इस युग का कवि क्षण में ही संपूर्णता के दर्शन करता है–

एक क्षणः क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त संपूर्णता
इस से कदापि बड़ा नहीं था महबुधि जो––
पिया था अगस्त्य ने।

जीवन के ये क्षण सुख-दुःख, संयोग-वियोग, आशा-निराशा किसी भी रूप में हो सकते हैं। इस लिए इस कविता में विविधता व विरोधी प्रवृत्तियां एक साथ समाविष्ट हो गई हैं। धर्मवीर भारती की कविता में विरोधी अनुभूतियों का(आध्यात्मिक एवं भौतिक)सुंदर समन्वय हुआ है।

फूल झर गए,
क्षण भर की ही तो देरी थी,
अभी अभी तो दृष्टि फेरी थी,
इतने में सौरभ के प्राण हर गए,
फूल झर गएं

10. भदेसपन

प्रयोगवादी कवियों ने प्रयोग की लालसा में उन सभी कुरुचियों, विकृतियों तथा भद्दे दृश्यों को भी कविता में चित्रित किया है, जो जीवन और समाज में व्याप्त रहें हैं, लेकिन उपेक्षित। इन्हें चित्रित करने के पीछे प्रयोगवादी कवियों का तर्क है कि जीवन में सभी कुछ सुंदर नहीं होता, बल्कि असुंदर और घृणित वस्तु तथा दृश्य भी जीवन से जुड़े रहते हैं। इसलिए जीवन की पूर्णता में ये त्याज्य नहीं हैं और घिनौनी चीजों में सौंदर्य देखने के लिए विशेष साधना अपेक्षित है। इससे कविता में जुगुप्सा उत्पन्न होती है। अज्ञेय की कविता का एक उदाहरण देखिए–

निकटतर धंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद,
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में,
तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव,
धैर्य, धन, गदहां

नई कविता की प्रवृत्तियां

प्रयोगवाद और नई कविता की प्रवृत्तियों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। नई कविता प्रयोगवाद की नींव पर ही खड़ी है। फिर भी कथ्य की व्यापकता और दृष्टि की उन्मुक्तता, ईमानदार अनुभूति का आग्रह, सामाजिक एवं व्यक्ति पक्ष का संश्लेष, रोमांटिक भावबोध से हटकर नवीन आधुनिकता से संपन्न भाव-बोध एक नए शिल्प को गढ़ता है। वादमुक्त काव्य, स्वाधीन चिंतन की व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठा, क्षण की अनुभूतियों का चित्रण, काव्य मुक्ति, गद्य का काव्यात्मक उपयोग, नए सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति, अनुभूतियों में घनत्व और तीव्रता, राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य, नए प्रतीकों-बिम्बों-मिथकों के माध्यम से तथा आदर्शवाद से हटकर नए मनुष्य की नई मानववादी वैचारिक भूमि की प्रतिष्ठा नई कविता की विशेषताएं रहीं हैं। अब इन विशेषताओं पर एक चर्चा–

1. अनुभूति की सच्चाई तथा यथार्थ बोध–

अनुभूति क्षण की हो या समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति (लघुमानव)की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की वह सब कविता का कथ्य है। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बन कर ही कविता में व्यक्त हो सकती है। नई कविता इस वास्तविकता को स्वीकार करती है और ईमानदारी से उसकी अभिव्यक्ति करती है। इसमें मानव को उसके समस्त सुख-दु:खों, विसंगतियों और विडंबनाओं को उसके परिवेश सहित स्वीकार किया गया है। इसमें न तो छायावाद की तरह समाज से पलायन है और न ही प्रयोगवाद की तरह मनोग्रंथियों का नग्न वैयक्तिक चित्रण या घोर व्यक्तिनिष्ठ अहंभावना। यह कविता ईमानदारी के साथ व्यक्ति की क्षणिक अनुभूतियों को, उसके दर्द को संवेदनापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करती है–

आज फिर शुरु हुआ जीवन,
आज मैंने एक छोटी सी सरस सी कविता पढ़ी,
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा,
जी भर कर शीतल जल से स्नान किया,
आज एक छोटी सी बच्ची आयी,
किलक मेरे कंधे पर चढ़ी,
आज आदि से अंत तक एक पूरा गान किया,
आज जीवन फिर शुरु हुआ
--**रघुवीर** सहाय
चेहरे थे असंख्य
आंखें थीं
दर्द सभी में था
जीवन का दंश सभी ने जाना था
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं।
मैं नहीं जानता किसकी वे आंखे थी
नहीं समझता फिर उनको देखूंगा।
परिचय मन ही मन चाहा तो उद्यम कोई नहीं किया।

किंतु उसी की कौंध
मुझे फिर फिर दिखलाती है,
वही परिचित दो आंखें ही
चिर माध्यम हैं
सब आंखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का

--अज्ञेय

2.कथ्य की व्यापकता और दृष्टि की उन्मुक्तता–

नई कविता में जीवन के प्रति आस्था है। जीवन को इसके पूर्ण रूप में स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। नई कविता ने जीवन को जीवन के रूप में देखा, इसमें कोई सीमा रेखा निर्धारित नहीं की। नई कविता किसी वाद में बंध कर नहीं चलती। इसलिए अपने कथ्य और दृष्टि में विस्तार पाती है। नई कविता का धरातल पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं से व्यापक है, इसलिए उसमें विषयों की विविधता है। एक अर्थ में वह पुराने मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति विद्रोही प्रतीत होती है और इनसे बाहर निकलने के लिए व्याकुल रहती है। नई कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है, यदि ये मात्र फारमुलें हैं, मात्र ओढ़े हुए हैं और जीवन की नवीन अनुभूति, नवीन चिंतन, नवीन गति के मार्ग में आते हैं। इन मान्य फारमूलों को, मूल्यों की विघातक असंगतियों को अनावृत करना सर्जनात्मकता से असंबद्ध नहीं है, वरन् सर्जन की आकुलता ही है। नई कविता के कवियों में से अधिकांश प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के खेमों में रह चुके थे। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक मानवीय संदर्भ, उसकी समस्याएं और विज्ञान के नए आयाम से जुड़ कर नई कविता ने अपना विषय विस्तार किया। आम आदमी जिस पीड़ा को झेलता है, औसत आदमी(मध्य-वर्गीय) जिस जीवन को जीता है, वही लघु मानव इस कविता का नायक बनता है। उसे इतिहास ने अब तक अपने से अलग ही रखा है। इसलिए नई कविता उसकी पीड़ा, अभाव और तनाव झेलती है।

तुम हमारा जिक्र इतिहासों में नहीं पाओगे
और न उस कराह का,
जो तुम ने उस रात सुनी
क्योंकि हमने अपने को इतिहास के विरुद्ध दे दिया है।

मनुष्य के भीतर मानवता का अंश शहर-दंश से कैसे नष्ट हो जाता है और वह स्वार्थ के संकीर्ण संसार में जीवित रहने के लिए कैसे विवश कर दिया जाता है, अज्ञेय ने इसी पीड़ा को कविता में यूं ब्यां किया है–

बड़े शहर के ढंग और हैं, हम गोटें हैं यहां
दाँव गहरे हैं उस चोपड़ के
श्रीकांत वर्मा के शब्दों में शहरी जिंदगी का सच -
चिमनियों की गंध में डूबा शहर,
शाम थककर आ रही है कारखानों में।

3. मानवतावाद की नई परिभाषा–

नई कविता मानवतावादी है, पर इसका मानवतावाद मिथ्या आदर्श की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है। उसकी यथार्थ दृष्टि मनुष्य को उसके पूरे परिवेश में समझने का बौद्धिक प्रयास करती है। उसकी उलझी हुई संवेदना चेतना के विभिन्न स्तरों तक अनुभूत परिवेश की व्याख्या करने की कोशिश करती है। नई कविता मनुष्य को किसी कल्पित सुंदरता और मूल्यों के आधार पर नहीं, बल्कि उसके तड़पते दर्दों और संवेदनाओं के आधार पर बड़ा सिद्ध करती है। यही उसकी लोक संपृक्ति है। अज्ञेय की एक कविता–

अच्छा
खंडित सत्य
सुघर नीरन्ध्र मृषा से
अच्छा
पीड़ित प्यार
अकंपित निर्ममता से
अच्छी कुंठा रहित इकाई
सांचे ढले समाज से
अच्छा
अपना ठाठ फकीरी
मंगनी के सुख साज से
अच्छा सार्थक मौन
व्यर्थ के श्रवण मधुर छंद से
अच्छा

निर्धन दानी का उघड़ा उर्वर दुरूख
धनी सूम के बंजर धुआं घुटे आनंद से
अच्छे
अनुभव की भट्ठ ी में तपे हुए कण, दो कण
अंत-दृष्टि के
झूठे नुस्खे रूढ़ि उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप शिव रूप सत्य सृष्टि के।
(अरी ओ करुणा प्रभामय)

4. कुंठाओं और वर्जनाओं से मुक्ति का संदेश–

नई कविता स्वयं को किसी विषय से अछूता नहीं समझती। नई कविता समाज की वर्जनाओं और व्यक्ति की कुंठाओं से निकल कर स्पष्ट और कोमल अनुभूतियों को यथार्थ की कसौटी पर कस कर अभिव्यक्ति देती है। उसमें यदि आदर्श के प्रति लगाव नहीं है तो अनुभूति के प्रति ईमानदारी में भी कोई कपट नहीं है। नए कवियों ने आवाज उठाई कि हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन। कम से कम वाली बात हम से न कहिए। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास में एक मार्के की बात कही कि नई कविता इस सारे के सारे जीवन और गरबीली गरीबी का काव्य है। जिसमें व्यक्ति की चेतना जीवन के सारे व्यापारों में, खेत-खलिहान में, नगर-गांव में व्यापक धरातल पर व्यक्ति की अनुभूतियों को स्वर देती है। मर्यादा और आस्था इस साधारण व्यक्ति के लिए कोई मायने नहीं रखते-

ज्ञान और मर्यादा,
उसका क्या करें हम,
उनको क्या पीसेंगे?
या उनको खाएंगे?
या उनको ओढ़ेगे?
या उनको बिछाएंगे?

5.विवेक और विचार की कविता

नई कविता में केवल भाव-बोध की अंधी श्रद्धा नहीं है, बल्कि उसमें तर्क बुद्धि, विवेक और विचार है। डॉ.लक्ष्मीकांत वर्मा के शब्दों में -उसकी प्रकृति

है प्रत्येक सत्य को विवेक से देखना, उसके परिप्रेक्ष्य में प्रयोग के माध्यम से निष्कर्ष तक पहुंचना। बाह्य स्थितियों के प्रति सतर्क और सचेत होकर कवि मानसिक विश्लेषण की ओर बढ़ता है–

मैं खुद को कुरेद रहा था,
अपने बहाने उन तमाम लोगों की असफलताओं को,
सोच रहा था जो मेरे नजदीक थे,
इस तरह साबुत और सीधे विचारों पर,
जमी हुई काई और उगी हुई घास को,
खरोंच रहा था, नोच रहा था।

6. विसंगतियों का बोध

नई कविता मानव-नियति को लेकर उसकी विसंगतियों के प्रति जागरुक रहती है। भारतीय राजनीति में निरंतर जो विसंगतियां उभरी हैं, सामाजिक और आर्थिक धरातल पर जो विरोधाभास आया है, उसे यह कविता मोह भंग की स्थिति में उजागर करती है। यही कारण है इसमें आक्रोश, नाराजगी, घृणा

और विद्रोह उभर आता है। आक्रोश के साथ निषेध के तेवर भी इसमें देखे गए हैं–

आदमी को तोड़ती नहीं हैं,
लोकतांत्रिक पद्धतियां,
केवल पेट के बल,
उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज,
धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने के लिए,
उसे शिष्ट राजभक्त देश-प्रेमी नागरिक,
बना लेती हैं।

7. द्वंद्व और संघर्ष

नई कविता का आत्मसंघर्ष काव्यात्मक बनावट में सामाजिक बुनियादी मुद्दों को उठाता है। आज की व्यवस्था में और उस व्यवस्था से जुड़े हुए प्रश्नों में कविता संघर्ष का मार्ग ढूंढ़ती है। उसका धरातल भी व्यापक है। यह संघर्ष आत्मीय प्रसंगों में भी उभरता है। उसमें सामाजिक और मानवीय व्यापार, संदर्भ उभरते हैं। ये कविताएं विषमता से जूझती हैं और नया रास्ता सुझाने का प्रयास

करती हैं। परिस्थितियों को बदलने और उनसे बाहर निकलने की छटपटाहट इनमें देखी जाती है। वह समस्याओं को पहचानती है–

जब भी मैंने उनसे कहा है कि देश शासन और
राशन....उन्होंने मुझे रोक दिया है,
वे मुझे अपराध के असली मुकाम पर,
उंगली रखने से मना करते हैं,

8. परिवेश संबंधी सत्यों का प्रकटन

नई कविता ने समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को उनके जीवंत परिवेश में व्यक्त किया, विषय या अनुभूति के आभिजात्य और भिन्न-भिन्न दृष्टियों या वादों से बने हुए उनके घेरों को तोड़कर व्यक्ति द्वारा भोगे हुए जीवन के हर छोटे-बड़े सत्य को प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से उभारने में ही कविता की सार्थकता समझी। बदलते हुए संदर्भों में परिवेशगत परिवर्तन केवल नगर के जीवन में ही नहीं आए, बल्कि इस नगरीय यांत्रिकता का दबाव गांव के जीवन पर भी पड़ा। उस ओर भी मूल्यों का विखंडन हुआ और जिंदगी में तनाव बढ़ा। परिवेश के परायेपन से उपजी पीड़ा नास्टेलजिया के रूप में प्रकट हुई। नई सभ्यता ने केवल शहर के आदमी को ही नहीं तोड़ा, बल्कि गांव के आदमी को भी गांव से बेगाना कर दिया--

याद आते घर,
गली चौपाल, कुत्ते, मेमने, मुर्गे, कबूतर
नीम तरु पर
सूख कर लटकी हुई कड़वी तुरई की बेल
टूटा चौंतरा
उखड़े ईंट पत्थर
बेधुली पोशाक पहने गांव के भगवान मंदिर।

आज की शहरी रोजमर्रा जिंदगी की अनुभूतियों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति नई कविता में मिली है। उन अभिव्यक्तियों को जो पल-पल के अंतर्विरोधों की उपज हैं। ऊपर से रंगीन दिखाई देने वाली शहरी जिंदगी व्यक्ति को कितना विदेह कर देती है और विदेह होकर भी आज का आदमी दर्द से छुटकारा नहीं पाता और वह केवल दर्द बनकर रह जता है, भारत भूषण अग्रवाल की एक कविता देखिए–

और तब धीरे-धीरे ज्ञान हुआ,
भूल से मैं सिर छोड़ आया हूं दफ्तर में,
हाथ बस में ही टँगे रह गए,
आँखें जरूर फाइलों में ही समा गई,
मुँह टेलिफोन से ही चिपटा-सटा होगा।
और पैर, हो-न-हो,
क्यू में रह गए हैं,
तभी तो मैं आज,
घर आया हूं विदेह ही,
देह हीन जीवन की कल्पना तो,
भारतीय परंपरा का सार है,
पर उसमें क्या यह थकान भी शामिल है,
जो मुझ अंगहीन को दबोचे ही जाती है।

9. यथार्थ की पीड़ा का चित्रण

नई कविता वास्तव में व्यक्ति की पीड़ा की कविता है। प्रयोगवादी कविता में जहां व्यक्ति के आंतरिक तनाव और द्वंद्वों को उकेरा गया है, वहीं नई कविता में वह व्यापक सामाजिक यथार्थ से जुड़ता है। जिंदगी की मारक स्थितियों को, उसकी ठोस सच्चाइयों को और राजनीतिक सरोकारों को यह कविता भुलाती नहीं हैं,पर यह न तो उत्तेजना बढ़ाती है और न ही कवि भावुकता का शिकार होता है। अपने अनुभव के सत्य को कवि बाहर के संसार के सत्य से भी जोड़ता है। इससे नई कविता का काव्यानुभव पुरानी कविता के काव्यानुभव से अलग तरह का हो जाता है--

एकाएक मुझे भान होता है जग का,
अखबारी दुनिया का फैलाव,
फंसाव, घिराव, तनाव है सब ओर
पत्ते न खड़के,
सेना ने घेर ली हैं सड़कें।

10. व्यंग्य के तेवर

नई कविता ने व्यंग्य के तेवर को अधिक पैना और धारदार बनाया। समस्याओं को समझकर उसने उस पर व्याख्यान करने की अपेक्षा उसे कसे हुए

सीधे शब्दों में प्रकट किया। यह व्यंग्य भी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता है और इसका क्षेत्र भी व्यापक हो जाता है। किसी भी क्षेत्र में हो रहे शोषण फिर चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक व्यक्ति, अथवा समाज, आदर्श हो या यथार्थ सब पर व्यंग्य की पैनी धार चली है। ..

प्रयोगवाद की विशेषताएँ

- अनुभूति व यथार्थ का संश्लेषण बौद्धिकता का आग्रह।
- वाद या विचार धारा का विरोध।
- निरंतर प्रयोगशीलता।
- नई राहों का अन्वेषण।
- साहस और जोखिम।
- व्यक्तिवाद।
- काम संवेदना की अभिव्यक्ति।

शिल्पगत प्रयोग

भाषा-शैलीगत प्रयोग

शिल्प के प्रति आगह देखकर ही इन्हें आलोचकों ने रूपवादी (Formist) तथा इनकी कविताओं को 'रूपाकाराग्रही कविता कहा।।

प्रगतिवाद ने जहाँ शोषित वर्ग/निम्न वर्ग के जीवन को अपनी कविता के केन्द्र में रखा था, जो उनके लिए अनजीया, जनभागा था, वहाँ मध्यवर्गीय प्रयोगवादी कवियों ने उस यथार्थ का चित्रण किया, जो स्वयं उनका जीया हुआ डेजा था। इसी कारण उनकी कविता में विस्तार कम है, लेकिन गहराई अधिक।